★ बोध ★

⊙

⊙

वेदान्त केशरी अवधूत

श्री प्रकाशानन्द जी महाराज एम. ए.

बोध

⊙

वेदान्त केशरी अवधूत

श्री प्रकाशानन्द जी महाराज एम० ए०

⊙

प्राप्ति-स्थान

मनूभाई जोशी

माधव जी एण्ड सन्स

२०/१ आरमेनियन स्ट्रीट

कलकत्ता—१

मूल्य
चार रुपया मात्र

मुद्रक
उमाकान्त धवन
दि कमर्शियल फाइन आर्ट प्रेस
गायघाट, वाराणसी

विषय-सूची



अवधूत परमहंस स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज
एवं
अवधूत वेदान्त केशरी स्वामी प्रकाशानन्दजी महाराज

ॐ जयगुरु देव

दो शब्द

इस "बोध" पुस्तक के नाम करण से ही पता चलता है कि यह पुस्तक ज्ञान सम्बन्धी हैं। आत्म-ज्ञान का नाम ही बोध है। गौतम ने बोधत्व प्राप्त कर ही भगवान बुद्ध की पदवी पायी। वेदों, उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों में इसी बोध के सम्बन्ध में समझाया गया है। स्वामी जी ने इसके प्रकाशन का भार मुझ पर देकर जो कृपा दरशायी, उससे मैं कृतार्थ हो गया। प्रूफ संशोधन के समय इसे बार बार पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ वस्तुत यह मेरे पूर्व जन्म के किसी विशेष पुण्य का फल था।

'बोध' का प्रत्येक लेख मौलिक तथा गहनतम ज्ञान का भण्डार है। स्वामी जी की वाणी आत्मा की वाणी है, अहंकार की नहीं। वे जब बोलते हैं तो वाणी से तेज निकलता है जिससे प्राय: रोमांच हो जाता है। स्वामी जी आत्म-दर्शी हैं उन्हें परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त है। बोध का प्रत्येक पाठ पठनीय है। प्रत्येक पाठ को बार-बार पढ़कर उसे मनन करना चाहिये तथा उस पर ध्यान करना चाहिये।

ध्यान क्या है। किसका ध्यान करना चाहिये तथा ध्यान कैसे किया जाता है आदि प्रश्न बार-बार मन के भीतर उठा करते हैं। स्वामी जी ने अपनी 'ध्यान' नाम की पुस्तक में इसे विस्तृत रूप में समझाया है। यह संसार क्या है ? हम कौन हैं · जीव का क्या स्वरूप है ? जीव किस प्रकार ईश्वरत्व को प्राप्त करता हुआ अपने आत्म स्वरूप में जो वस्तुत: परमात्म स्वरूप ही है—क्योंकि आत्मा तथा परमात्मा एक ही शक्ति है सतचित आनन्द-अद्वैत-ब्रह्मानन्द—आदि विषयों पर इसमें विशदता के साथ प्रकाश डाला गया है।

मानव सब कुछ करता हुआ भी पीछे की तरफ ही दौड़ लगा रहा है जगत को पाने, उस पर अधिकार करने के लिये। ज्यों-ज्यों उसे उपलब्धि होती है त्यों-त्यों उसकी भूख बढ़ती जाती हैं क्योंकि मानव मन जो वास्तव में विराट मन का ही अंश है उतना पाकर सन्तुष्ट नहीं होता, इसका कारण है हमारा जगत् के सम्बन्ध में अज्ञान। जगत् को जो जन्म के साथ ही गत (नष्ट) होता जाता है—नाशवान है – क्षण भंगुर है - हम सिया राम मय-ब्रह्म मय नहीं पाते। इसे जड़ मान लेते हैं इसी कारण यह मृगमाया की तरह भागता जाता है यदि हम इसके स्थूल रूप का त्याग कर इसके प्रत्येक कण में राम का

दर्शन करने का बोधत्व प्राप्त करें तो जगत् के पीछे हम नहीं आयेंगे जगत् स्वयं नम्र सेवक की भाँति हमारे पीछे आयेगा। यही है तत्व दर्शन, इसी का बोध इस बोध नाम की पुस्तक में कराया गया है। आशा ही नहीं मुझे पूर्ण विश्वास है कि जो भाग्यवान अपने स्वरूप को पाना चाहते हैं वे इसे अवश्य पढ़ेंगे। अतिशीघ्र छपाई के कारण प्रेस सम्बन्धी कुछ भूलें रह गयी हैं पाठक इसके लिये क्षमा करेंगे।

इसके प्रकाशन में मैं कमर्शियल फाइन आर्ट प्रेस के व्यवस्थापक श्री उमाकान्त धवन (कुक्कू बाबू) का विशेष रूप से अनुगृहीत हूँ। अवधि के बीच प्रकाशन के लिये पैसे का मोह न कर जिस प्रकार संलग्नता के साथ इन्होंने रात-दिन काम कर इसे समय पर निकाल दिया है उसके लिये ये विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। साथ ही श्री रामायण सिंह (अकेला) को भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने स्वयं कष्ट कर इन महापुरुषों से सम्मतियाँ प्राप्त करने में सहायता दी है।

सारा विश्व सुखी हो, सबके मन में शान्ति का निवास हो, सभी अपने स्वरूप को समझकर तदरूप जगत् में व्यवहार करें इस शुभ कामना के साथ मैं विदाई लेता हूँ। ओम् शान्ति ओम् शान्ति, ओम् शान्ति

विनयावनत

राधा कृष्ण उपाध्याय

साहित्यरत्न

सम्मतियाँ

वेदान्त केशरी अवधूत श्री प्रकाशानन्दजी महाराज एम० ए० की 'बोध' नामक पुस्तक को मैंने आद्योपान्त पढ़ा। वस्तुत: पुस्तक समय के अनुकूल एक उपादेय ग्रन्थ है जिसमें लेखक ने अपने अनुभवों, झूठेसच्चे 'सन्त-असन्त' जगत् के व्यवहार एवं व्यक्ति के जीवन को चरित्रवान कर्मठ एवं निर्माण की दिशा दिखा कर एक बहुत बड़ा सफल प्रयास किया है।

आधुनिक युग में शिक्षा का उद्देश्य क्या है एवं शिक्षा प्राप्त करके भी व्यक्ति सत्य और असत्य निर्णय नहीं कर पा सकता। श्री प्रकाशानन्द जी महाराज ने सचमुच वास्तविकता दिखाते हुए सत्य, ज्ञान एवं वस्तुस्थिति को बोध कराने के लिए इस बोध' नामक पुस्तक में अनेक मौलिक लेखों की रचना की है। श्री प्रकाशानन्दजी का यह प्रयास सराहनीय एवं स्तुत्य है।

इस बोध' नामक पुस्तक से सभी प्रकार के अध्येताओं को वस्तु-स्थिति का सही बोध होगा। बोध' के क्षेत्र में एवं ज्ञान की दिशा दिखाने में यह पुस्तक उपादेय सिद्ध होगी।

अच्युतानन्द घिल्डियाल
एम० ए०, पी एच० डी०

१७।२।७४

अध्यात्म का केन्द्र बिन्दु सिद्ध होने वाली यह पुस्तक 'बोध' बुद्धत्व प्राप्त कराने का एकमेव साधन होगी, समाज का मार्गदर्शक सिद्ध होगी और धर्म साधन में व्यक्ति को जुटाएगी—ऐसी मेरी धारणा है। यह झूठा नहीं हो सकता कि समय की रफ्तार के साथ प्रस्तुत 'बोध' पुस्तक समाज एवं धर्म के साथ आरोह-अवरोह के लय की भाँति तारों से अभिन्न रहती हुई झंकृत होती रहेगी। आद्योपान्त पुस्तक में दिये गये दृष्टान्त एवं विषय चयन लेखक श्री प्रकाशानन्दजी महाराज की अद्भुत शक्ति का बोध कराते हुए पाठक को एक ऐसे विश्राम स्थल पर ले जाकर खड़ा कर देने की अद्भुत शक्ति रखते हैं कि पाठक स्वतः अध्ययन के बाद अपने आप को ईश्वर में नहलाता दिखाई पड़े।

आशा है लेखक श्री प्रकाशानन्दजी महाराज अपनी पावन निर्झरिणी से धर्मसमाज हितार्थ ऐसी अनेकानेक कृतियाँ देते रहेंगे।

संसद सदस्य
प्रो० राजाराम शास्त्री
काशी विद्यापीठ

सन्त का शासक को सहयोग

(समाज पर सन्त का ऋण)

●

एक वार रेल में शरीर बैठा हुआ था। कुछ शिक्षित नवयुवक भी साथ ही में बैठे थे। देख देख कर साधु से मजाक करने के बहाने अपने हृदय का प्रदर्शन कर दिया। एक गरीब पैसा माँगने लगा तो एक बोला "यार, कंगालों और साधुओं को तो जेल में रख देना चाहिये, गवर्नमेन्ट को !" "अरे यार, जेल में गवर्नमेंट का खर्च ही तो कर-वायेंगे ! अच्छी स्कीम बनाई।" दूसरा बोला 'तो क्या करें ?" अरे इन सब को तो गोली से उड़ा देना चाहिए या समुद्र में डुबा देना चाहिये।" तीसरे ने जजमेंट दे ही दिया। हमें हँसी आ गई। जब हँसते देखा तो एक बोल पड़ा" अरे, साधु जी हँस रहे हैं। यार इनसे कुछ होने दो।" "क्यों, महात्मा जी क्यों हंसे ?" मैंने कहा "हँसना आता है।" "क्यों ?" प्रकृति ने जन्म-मृत्यु. हंसना-रोना सबको बराबर दिया है।" मुझे हंसना इसलिए भी आया कि सब को धरती, जल, अग्नि, वायु और आकाश तो जीने का हक दे रहे हैं और आप लोग उसी प्रकृति के पले उस प्रकृति-पुत्रों को डुबाने या गोली से उड़ाना चाहते हैं, भला रहा, अभी आपके पास कोई हथियार नहीं था।" सब सकपकाए। मैंने कहा," शासन के शस्त्र उन्हीं को प्राप्त होते हैं जो रक्षा करना जानता हो, मारना नहीं। शक्ति रक्षा के लिये होती है, दुर्बलों की सहायता के लिए।" उन्होंने कहा "तो दुर्बल को रहने का प्रकृति में अधिकार नहीं है Survival of the fittest का नियम सर्वत्र दिखाई दे रहा है।" "मैंने कहा" सारे ही प्राणी दुर्बल भी हैं और सबल भी। यदि प्रकृति को दुर्बल को मारना ही था तो पैदा ही न होने देती। तुम हम सब बाल अवस्था में निर्बल थे परन्तु वचा लिये गए।" एक बोला" महात्मा जी, इन कोढ़ी अपाहिजों कंगालों से राष्ट्र का धन बर्बाद हो रहा है।" मैंने कहा, "प्यारे ओ, यह सोच कर कि ये बेकार हैं तुमने अनधिकार चेष्टा की है। इनको मारने के पहले उन कुकर्मियों को जो केवल भोगों में रमकर शास्त्रों के नियम विरुद्ध संतान पैदा करते हैं, जिस अशास्त्र विहित कर्म का फल अपंग अपाहिज उत्पन्न करते हैं उन दुष्टों को पहले मारना होगा। न वे पैदा करते, न ये ऐसा दुःख पाते। यदि तुम्हें इनका रक्षण नहीं करते बनता तो कम से कम इनका विनाश न करो। तुम्हें इनका उपयोग करने की युक्ति और बुद्धि नहीं है, अतः अपनी मूर्खता कम से कम जाहिर तो न करो। तुम्हारे बचपन के शरीर और तुम्हारे वृद्धावस्था के शरीर, तुम्हारे अज्ञानावस्था से युवा-वस्था में उन्मत्त जीवन भी इसी प्रकार राष्ट्र के लिए हानिकारक समझकर मार दिए

जाने चाहिए। कैसा लगेगा ?" वे लड़के समझ गए। हम साधु से धोखा खा गये। उन्होंने सोचा था साधु भेष में यूंही जो घर से बरबाद होते हैं, अपठित और चोर होते हैं, होंगे। एक ने कहा "महात्मा जी Excuse me please आप सरीखे विद्वान् यदि राष्ट्र-रक्षा सेवा के हित लगें तो कितना भला हो ? आप साधु क्यों हुए ? मैंने कहा—चोर नहीं हुए इस लिए। उसने कहा—इसका मतलब ?" "चोर हो जाते तो न साधु होते। आप इस तरह न पूछ ही पाते न हम सुन पाते।" उसने कहा—"आप, बहुत अच्छे हैं" मैंने कहा—आप भी साधु बन जाइये।" उसने कहा," मुश्किल है।" मैंने कहा 'तो चोर हैं।" चोरों की अधिक आवश्यकता है या साधुओं की ? उसने कहा, "है तो साधुओं की। परन्तु, सब हो नहीं सकते।" मैंने कहा, "यदि साधु ही हो जायें, सज्जन हो जायें तो कैसा होगा ?" उन सबने कहा "तो यह स्वर्ग बन जायेगा।" मैंने कहा, "इसका अर्थ है सभी स्वर्ग चाहते हैं।" उन्होंने कहा, 'हां।' मैंने कहा "तो प्रण करिए कि हम सबको साधु ही होना चाहिए जिसके प्रताप से राष्ट्र की सच्ची सेवा हो सकेगी।" क्योंकि राष्ट्र के शासकों को सुव्यवस्था लाने में जो अड़चन है वह है किस कारण ? केवल इन असाधुओं के कारण ! शासन क्या है ? यह कि प्राणी मात्र को अपने-अपने अधिकार का उपयोग करने की सुविधा देना। उस सुविधा को न देकर विषमता उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को दंड देना जिससे फिर वह समत्व में आ जाय।

समत्व ही समाज की, परिवार की, राष्ट्र या प्राणीमात्र की माँग है। शासकों ने देख लिया है कि जेलों के द्वारा, कड़े शासन के द्वारा कॉलेजों या शिक्षालयों के द्वारा, हजारों कानूनों के द्वारा, वकील बैरिस्टरों व पुलिस के द्वारा भी यह समत्व नहीं स्थापित हो पाता। ये जेलें, ये कड़े शासन दुःख निवृत्ति के लिए समय पर दीनता भले ही निर्माण करा दें परन्तु हृदय से अनीति को दूर होने का प्रण नहीं करा सकते, भले ही बदले की भावनायें और बढ़ा दें।

जब तक किसी के सामने कोई आदर्श उपस्थित न हो उसे केवल शासन या उपदेश ठीक नहीं कर सकता। यही कारण है कि समता में स्थित कोई सन्त के संमुख वह व्यक्ति जो हजारों प्रयत्नों से भी सुधर न पाया हो-थोड़े संग से भी केवल शब्द व क्रिया, भाव व विचार के आदर्श को देखकर सदा के लिए सुधरता देखा गया है।

क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, कूटनीतिक, क्या धार्मिक और क्या पतित से पतित और असम्भव गंदे कर्म करने वालों में—सर्वत्र ईमानदारी, प्रेम, सेवा, विश्वास एवं समता की माँग है। अर्थात् चोर और वेश्या भी यही चाहते हैं कि उनके साथी उनके विश्वासपात्र, प्रेमी, सेवक व हितैषी रहें। अब बताओ कि जब साधुता सभी चाहते हैं तो 'साधु' शब्द से घृणा क्यों ?

तप, संयम, त्याग, सेवा, शान्ति, प्रेम और ज्ञान का सम्मिश्रण ही साधु का रूप है। हर व्यक्ति का जीवन इन्हीं तथ्यों पर जीवित, बृद्धिगत व प्रतिष्ठित होता है।

भारत के साधु संत विश्व के लिए अनादि काल से एक पहेली से रहे हैं। किराये पर नहीं, नौकरी के रूप में नहीं, अनुकूल बदले की शर्त में नहीं, केवल प्रभु के समता के राज्य का अनुभव करते हुए निरभिमान, निःस्वार्थ सेवा, प्रेम, और क्षमा व सहन शक्ति, –जिन महान् गुणों के बिना कोई भी विश्वविभाग सुरक्षित रह नहीं सकता–उसका अनुभव व प्रयोग करते हुए, रोटी वस्त्र की परवाह न करते हुये भी समाज की सेवा में तत्पर भारतीय सन्त का जीवन सिरमौर है।

इस प्रकार गाँव-गाँव जाति, भाषा, भोजन, देश के हर कोने में बिना सुविधा देखे भी आज तक अपने देश की सीमा में सबको अपना मानते हुये घूमता है तो यही सन्त सर्वत्र एक प्रभु की झाँकी देखता है। जब सब अपने या प्रभु के ही हैं–यह निश्चय हो जाता है तो हरेक व्यक्ति स्वाभाविक ही निरभिमानी व सर्वप्रेमी हो जायेगा। हवा पानी प्रकाश मिट्टी आकाश के समान सबका हितैषी होते हुये जो व्यक्ति सर्वत्र रहेगा वही सच्ची सेवा कर सकेगा या वह, जो कुछ दायरे का ही अभिमानी है ?

रागद्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, मद, मत्सर, हिंसा, चोरी, आदि में जितने दुर्गुण हैं ये ही कहीं भी व्यवस्थापक को हैरान किया करते हैं–ये देहाभिमान से और समत्व के अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। जिस आत्मज्ञान से ये निवृत्त होते हैं, अर्थात् मैं देह हूँ ही नहीं, मैं आतमा हूँ–सर्व का आतमा-सारे शरीर मेरे ही हैं ऐसी व्यापक भावना जिस (आत्म-ज्ञान) से ही उत्पन्न होती है, इसके हुए बिना सच्ची प्रामाणिकता; संयम हो ही नहीं सकता।

वीर धीर और स्वस्थ-काम के राज्य से पार हुये बिना–कोई आजतक न हुआ है न होगा। राज्य शासन सब कुछ कर सकता है परन्तु काम-राज से निवृत्त करने का जब तक प्रयत्न नहीं किया जायेगा, इन्द्र के राज्य के समान भी वह क्यों न हो अव्यवस्था ही वहाँ रहेगी। सारे दोष जो भी कहीं है केवल काम के ही जाने अनजाने कार्य हैं। वकील और जज हैरान हो जाते हैं, पुलिस और जेलें ठंढ़ी पड़ रही हैं क्योंकि इस काम से वे भी निवृत्त नहीं हो पाते ! इस काम को केवल एक सुयोग्य विरागी सन्त का उपदेश ही ठीक कर पाता है।

जितने भी सत्यासत्य के निर्णय बुद्धिमानों के यहाँ राज्यों में या व्याख्यानों में होते हैं उन सबके लिए, तर्क के लिए इन्हीं सन्तों ने व्याख्यायें दी हैं। नीति धर्म तो हर जगह आवश्यक है।

परन्तु आश्चर्य है कि इतने पर भी गवर्नमेंट इन धर्म विचारों के प्रचार की ओर उपेक्षा भरी नजर रखते हुए इनके बिना केवल भ्रष्टाचार–निरोध समितियाँ–खोलती जा रही है। क्या होगा ? पकड़नेवाले स्वयम् चोर हों तो कौन पकड़ेगा ?

परन्तु अभी भी जो भी कहीं कुछ अच्छाइयाँ दिखाई हेती हैं वह इन सन्तों की ही कृपा है जो उपदेश ग्रन्थों के पाठ पूजन के नियमों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अन्तः शोधन की प्रेरणा देकर बुराइयों से बचाये हैं। पके पकाये फल जैसे माली समाज को देता है तद्वत इन सन्तों ग्रन्थों व उपदेशों के द्वारा न जाने कितना शुद्ध जन समाज देश में अब भी पड़ा हुआ है ? परन्तु शासक की यह तो विचित्रता है कि किसी साधक का साधु भेष में पतन हो जाय तो तुरन्त वह पत्रों में छप जायेगा; परन्तु इनके द्वा लाखों जगहों में जो विश्व सेवायें हो रही हैं उसके बारे में कभी नहीं छपता। ऐसी एक चेतना पैदा की जा रही है जो धर्म एवं सन्तों से दूर करे और इसका फल यह हो रहा है कि अब असाधु चोर तो हो रहे हैं साधु कोई नहीं।

प्राकृतिक समत्व के नियमों पर विश्व का सुव्यवस्थिततत्व रहता है, उनका प्रदर्शन ही धर्म का प्रचार है। परमात्मा के लिए, मौत के लिए व अन्याय के लिए। यह डर यदि व्यक्ति के हृदय से निकल गया तो शासन असंभव होता जाता है।

सन्त, जिसकी कृपा से व्यक्ति अपने व्यापक स्वरूप (शुद्ध निर्विकार स्वरूप) का अनुभव करके परोपकार, विनम्रता, स्वास्थ्य एवं प्रेम में सहर्ष जो समाज के लिये उपस्थित होता है ? आज जितने गरीब अपंग व अनाथ स्त्री पुरुषों का पालन, एवं विद्यार्थी व रोगियों को सेवा हो रही है वह केवल गवर्नमेंट के द्वारा नहीं वरन कर्म के उपदेशों, धर्म ग्रन्थों व सन्तों की ही देन है। चाहे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष हो सन्त ही विश्व आधार है। परमात्मा जो हम सब को जीने देता है सन्त का ही तो स्वामी है।

तो सन्त का शासक को सदा सहयोग ही रहता है, विरोध नहीं। विश्व पर संत का जो ऋण है अमिट व अचूक है। संतों के लिये कोई भी सुविधा सरकार से न होते हुए भी सन्त शासक को भी अपना मानते हैं। परन्तु हाँ, सन्तों की ओर से होने वाली सेवायें, वृक्षों की अव्यक्त जड़ों के सदृश ही होती आई हैं। वे किसी भी संख्या में बद्ध होकर नहीं करते। संख्यायें सीमित बुद्धियों के दायरे में होती हैं। जिसके सब हों वह सन्त सभी का होने के नाते राजनीति जो वेश्या के समान रंग बदलती है उससे बहुत दूर रहते हुए उसमें भी-उन्हीं व्यक्तियों की नियुक्ति चाहता है और भेंट भी करता है जो समाज में से ही निकलते हैं और जो सन्तों की प्रेरणाओं से ही पक्व होते हैं। यह और है कि सन्तों के संग बिना आजकल सर्वत्र ही भ्रष्टाचार है। महात्मा गांधी का प्रमाण दूर नहीं है। संत का प्रभाव महान् है।

परन्तु शासक व समाज इधर देखें, तब है। क्या ही अच्छा हो जो सर्वत्र धर्म शिक्षा हो, सन्त भाव हो, संत सेवा हो, गुरुकुल हों और विनयी व संयमी आत्मज्ञानी समाज हो !

हो कैसे ? आज की गवर्नमेंट तो वेश्यायें, भिखमंगे, चोर और कंजड़ों का भेष बदले खुफियों को भी साधुओं की मर्दुमशुमारी में करके लोगों को फेर रहे हैं। उन्हें उतना भी ज्ञान नहीं कि साधु कौन है ?

आज विश्व में एक ही ऐसा दुर्गुण व्यापक होता जा रहा है, जिसके कारण राष्ट्र के राष्ट्र का बर्बाद होने का अवसर आ गया है और वह है एक-एक का अनादर करने वाली—अविनयी वृत्ति । शिक्षालय, केवल इसी के लिये नहीं थे । परन्तु आजकल तो freedom of action के नाम पर हर व्यक्ति किसी बड़े से बड़े का अनादर करने में अपने को बहादुर व चतुर समझता है । काम के राज्य में स्वाभाविक ही वृद्धिगत होने वाला यह भूत जब तक शासित नहीं होगा कितने भी नियम व परिवर्तन हों—शान्ति आयेगी ही नहीं ।

भारतीय ऋषियों व सन्तों ने एक इसी विनय के उत्पादन में अपने सारे तप व ज्ञान के प्रयोग से, लोभ और भय के द्वारा कण-कण का आदर करने की एक अजीब सिद्धि करवा ली थी जिसका ही नमूना चींटी से लेकर सबकी पूजा एवं अतिथि की सेवा है । सन्तों की यह शिक्षा जो अति आवश्यक है इस ओर शासक को ध्यान करना ही होगा । तभी देश स्थायी स्वतंत्रता का आनन्द ले सकेगा । अभी तो हमें बहुत आगे बढ़ना है । दीर्घायु, स्वास्थ्य, शान्ति, आत्मस्थिति, योग व आत्मज्ञान जो ये सब संत संग से ही सम्भव है, प्राप्त करना है । अतः सन्त का विश्व पर जो ऋण है उसे समझना ही होगा । सन्त का उपयोग उठाना, सन्त को सुविधा देना, सन्तमय सारा विश्व हो जाना क्या है ? ईश्वर को सदा अपने ऐश्वर्य सहित अपने पास रखना तथा निरिच्छ, निरभिमानी, अपने में तृप्त होकर सेवा में तत्पर होना ।

फैक्ट्रियाँ व बाँध, मशीनों में अपना ग़ौरव मानने वाले शासको ! सदा से भारत की आशा भरी नजर से देखने वाले एवं सारे विश्व को अपनी शान्ति, त्याग, स्वरूप मस्ती व प्रेममयी छवि से चमत्कृत व आश्चर्यचकित करने वाले सन्तों को तैयार करके तुम भी तो इनकी भेंटें बाहर के देशों को भेजो । उनके भौतिक विज्ञान में, जिसमें तुम भूले हो, तरस रहे हो, उन पर भी आज तुम्हारा ही शुभ विचार का प्रभाव है यह न भूलो । और क्या—इस ओर तुम्हारा ध्यान है कि सब कुछ जिनके पास था और जिनका राज्य सूर्य में ही रहता था उन्हें तुमने बिना शस्त्रोंके जिस संकल्प बल से ही बाहर किया है—उस संकल्प बल को भी बढ़ाने की तुमने धारणा बनाई है ? उसके लिए क्या प्रयत्न किया ? राजनीति के नियमों में तुमने तो सबको विभक्त कर भोगी बनाने में ही सफलता मानी है । भारत की भावना शक्ति, आत्मज्ञान व तप का जीवन महान् है उस ओर भी ध्यान दो, उस पर भी तरक्की करो और यह तभी संभव है जबकि सब पर

इस विनय की शिक्षा का प्रभाव पड़े और सज्जनता की शिक्षा के द्वारा, सतसंग द्वारा हम सब लोग आध्यात्मिक दृष्टि से अखण्ड बनें। भारत की नारी जो जगन्माता-त्रैलोक्यवंद्य सती थी उसे आज क्या बनाने जा रहे हो ?

नीति, धर्म, आत्म-ज्ञान, शिक्षा, योग एवं शासन के सभी नियमों की भित्ति एक इसी भाव पर आधारित है कि 'मुझमें सब और सबमें मैं' यह भाव। क्षणभंगुर इस देह में बड़े भाग्य से पाये जीवन के द्वारा परम तत्त्व की प्राप्ति कर शेष जीवन को समता में बिताने की सहज कला सीखनी ही होगी ओर इतना होने पर जो स्वयम् ही स्वयम् का शासन कर लेता है उस पर बाह्य शासक की आवश्यकता ही नहीं रहती। तो ऐसी शिक्षा जो केवल साधु, सज्जन, सन्तों के ही पास होती है जिन पर आज तक किसी का शासन नहीं हो पाया वे सन्त इसी के लिये सदा सचेत करते रहते हैं और इसी तरह समाज का वैषम्य साम्यावस्था में लाते रहते हैं। क्या शासक के लिये यह कम सहयोग है ? एक-एक फूल व्यापक गंध को मिटाने में अपनापन खो रहा है इसे कोई कोई ही जानते हैं। अब तो दुर्गन्ध बढ़ाई जा रही है और बगीचे अर्थात् ये फूल मिटाये जा रहे हैं, कैसे होगा ?

सब धोबी के पत्थर ?

धोबी एक पत्थर साथ ले जाता है जहाँ उसे कपड़े धोने होते हैं। पानी के किनारे उस पत्थर या काठ के टुकड़े को रखकर धपाधप सारे कपड़े दिन भर में धोकर निश्चिन्त हो जाता है। यदि वह पत्थर का साधन इसके पास न हो तो ? तो बड़ी मुश्किल होगी ? क्या यही हाल हम सब के लिये लागू नहीं है ? हम भी घर में कोई न कोई ठोकर जगह या पत्थर या लकड़ी रखते हैं। जिसपर कपड़े पीटकर धोते हैं। यदि यह सुविधा न हुई तो हाथ मल-मल कर रह जाना है।

यह तो हुई बाहर के कपड़ों के विषय की बात ! परन्तु यही हमें जब अपने अन्दर के मैल को धोने के लिये कोई पत्थर न मिले तो कपड़ों को मैले होने पर कितने गंदे, कसैले पदार्थ जबरन खिलाये-पिलाये जाते हैं—मैल को उलटाने के लिये कितनी कितनी भार रखनी पड़ती है ? इसे भी तो इन सब की जरूरत है यदि न हो तो हम

अपने मैल को रखे रखे घुटकर मर जाते। परन्तु हमें बड़ी परेशानी होती है जब किसी पत्थर पर पटका जाये या किसी डंडे से—डंडे से भी पीटा जाये तो ?

प्रकृति में परमात्मा ने सर्वत्र सफाई के लिये–अपने-अपने मैल को धुलाने के लिये–सबको साथी दिये हैं और वे सभी सहर्ष उनसे अपने को बिना दोष दिये ही धुलवा लेते हैं एवं नित्य नवीन हुये, विश्व की सेवा में जुटे रहते हैं।

धरती की गंदगी को कीड़े, पक्षी, नदियाँ पशु धो ही रहे हैं। नदियों के मैल को समुद्र। पहाड़ों, मकानों की छतों, नदियों आदि के मैल को बादल धोते हैं। वायु सभी की गंध बहा-बहा कर शुद्ध करता है। आकाश स्वयं में साफ रहते हुये ही इन सबको साफ रहने की प्रेरणा देता है।

देह का मैल इन्द्रियाँ-नाड़ियों का प्राण-प्राण का मन व मन का बुद्धि धोती हैं –साफ करती है। बुद्धि का चित्त व चित्त का अहं एवं अहं की गंदगी—अहंकार को सुषुप्ति अवस्था साफ करती है। और जाग्रत स्वप्न के तमाम मैलों को—कषायों को—भक्ति ज्ञान ध्यान व योग साफ करते हैं। नक्षत्र-नक्षत्रों के प्रभावों को (दोषों को) मौसमों को पलटाकर साफ करते हैं व खुद भी वे एक एक के सहयोग से शुद्ध होते रहते हैं। और रह गया आप तो आप भी अपना अज्ञान जगत पर डालकर आप शुद्ध रहता है। और परमात्मा ? माया से अलहदा रहने की सतर्कता रखकर वे भी शुद्ध ही बने रहते हैं।

शुद्धि सब चाहते हैं—कर लेते हैं—क्योंकि वे शुद्ध हैं। परन्तु मानव क्या करे ? वह तो अपने मैल को धोना भी चाहता है परन्तु मारपीट खाकर नहीं, मान गँवाकर नहीं। भक्ति, ज्ञान, ध्यान. सतसंग, स्वाध्याय आदि द्वारा करना उसे सदैव नहीं जँचता। सरल उपाय चाहिए और वह भी ऐसा कि विकार आये तो आये—विनष्ट हों, न हों—चिन्ता नहीं—परन्तु आने पर अपनी शुद्धि को बचाये रखने के लिये वह सरल साधन चाहता है।

वैसे तो सद्‌गुरु सन्तों सज्जनों के सँग अथवा आदर्शों के लीला रूपी आईने में अपने को जांचकर शुद्ध कर लें। परन्तु मानव का यह अभिमान कि हम भी क्या कोई कम हैं—मुझे किसी के सामने झुकने नहीं देता। सन्त व सत्‌शास्त्र धुलाई की लान्ड्री है पर जँचे तब ?

रोना है, पछताना है—कुढ़ना है परन्तु झुकना नहीं चाहता है। तो फिर क्या करे ? भगवान करते हैं तो कोई बात नहीं। हमने हरएक के आस-पास उसके सरीखे असंख्य भगवान बना रखे हैं तो उन्हीं से जब जो जिसके पास पड़े अपना मैल निकाल लो। थोड़ी धपाधप फटाफट बकाबक। फिर साफ हो जायेगा।

परन्तु इतना ध्यान रखो कि सभी के लिये पत्थर हैं। जिस किसी को कभी अपना मैल अखरे, पास वाले पर निकाल लो परन्तु उसे भी–उसके समय पर निकालने

का–उसका हक सुरक्षित रखो। सच में जो यही सस्ता नियम पालते रहते हैं शीघ्र साफ होते हैं। कहीं-कहीं दूसरे के अधिकार के हनन से ज्यादा फटाफट होती रहती है ईर्ष्याजलन की आग भी लग जाती है। परन्तु साधारण प्राणी के लिये यह अजीब नुसखा है और अब तो यह इतना प्रचलित हो गया है कि इसके सिवा किसी को जँचता ही नहीं। इसी की भरमार है। उत्तम तो यह होता कि सब-सबके सहयोगी होने से सबको सुविधा देते या तो अपने दोष पैदा ही न होने देते; पैदा होते तो खुद हजम कर लेते; नहीं कर सकते तो पासवालों से शुद्ध करवा लेते; और किसी प्रकार भी नहीं होता तो पास वाले पर पछोर लेते परन्तु बुरा न मानते। दोनों को धन्यवाद देना चाहिये। दोनों ने दोनों को–एक निर्दोष हुआ देखकर एक ने व एक ने किया इसलिये। है यह बड़ा अजीब सस्ता नुस्खा जो सध जाय। परन्तु परमात्माने इसे प्रकृति से खेलने में उत्पन्न स्वाभाविक मैल की निवृत्ति के लिये ही निर्माण किया था। सब लोग इसी नुस्खे का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग सतशास्त्रों व स्वनिरीक्षण द्वारा, कोई भगवान को अर्पण करके तथा कोई साधनों के द्वारा दोषों को खरल की औषधि की तरह घोंटते रहने में ही खुश रहते हैं। भगवान भी उन्हें एक अजीब कूड़ा पेटी मिली है बिचारी कि दोष वे करें और उसमें डालते रहें। परन्तु भगवान भी कम बुद्धिमान नहीं। उसे भी जब ये दोष अखरते हैं तो वह इन्हीं पर उछालता है सब—अनेक गुना करके। बड़ा मजा है इस खेल में। कहीं मन को दोष देकर आप छुट्टी लेते हैं; कहीं देह पर लाँछन लगा कर, कहीं बुद्धि की भूल मानकर; कहीं चित्त का दोष मानकर, क्षमा करवा लेते हैं। बाह्य की तो बात नहीं—अन्तर वाले ये (मन, बुद्धि, प्राण, शरीर, इन्द्रियाँ, अहंकार चित्त व परमात्मा आदि)। ऐसे तो अच्छा है कि जैसे समझौता हो गया है। हम जब तुम्हें कुछ कहें तो बुरा मत मानना—करते भले रहो। और ये भी कहते रहते हैं कि हमारा कोई कसूर नहीं आप जैसा चाहते हैं, हमें क्याँ, मिटे भले हम आप प्रसन्न तो हैं ? सर्वत्र होने वाले इस बालीबाल के खेल का कब अन्त होगा, भगवान् ही जाने।

थक जाने पर तो दोनों ही कुछ देर एक एक की हार-जीत, दोनों की चर्चा करते-करते मिलकर, अपने-अपने घर चले जायेंगे—तनमनादि मृत्यु में और आत्मा अपने अमरत्व में। कोई कभी भी जाये परन्तु ये धोबी के पत्थर हैं बहुत अच्छे। यदि ये न होते तो आफत मच जाती! आफत !

माँग और ईर्ष्या का रहस्य

माँग असल में अपने आपको केवल अपनी है। संस्कार वश वह भिन्न-भिन्न पदार्थादिक में प्रतीत होती है । भिन्न में होती तो हरदृष्य भोग के द्वारा विनाश क्यों करता है ? सुरक्षित रखना जो चाहता है तो सम्हाले ? फिर सन्तोष भी क्यों नहीं होता ! एक बार नहीं अनेक बार भोग प्राप्त करने पर भी सन्तोष क्यों नहीं ? अतः यह निश्चित हुआ कि प्राप्ति की जितनी चीजें दिखाई देती हैं उनमें असल में अपने दर्शन की माँग है आड़ में आ जाने के कारण—इनमें प्रेम न होने के कारण—इनकी दुर्दशा की जाती है भोग द्वारा । जैसे बच्चा माँ को चाहे, दूध चाहे, वह न मिलने पर बाकी सभी जो प्राप्त हो उसे तोड़ता जाता है। माँ का दूध प्राप्त होने पर उन्हीं पदार्थों से जिनसे कोई द्वेष नहीं था फिर से खेलता है । अतः अपने को अपने आप का सर्वत्र दर्शन होने पर ये ही पदार्थ व्यवहार की पूर्ति में हानिकारक प्रतीत नहीं होते व व्यवहार पूर्णतः होता है । परन्तु निजज्ञान, निजदर्शन (प्रतीति) सर्वत्र हुये बिना न इनमें प्रसन्नता न सन्तोष ही प्राप्त होता है । निज रूप के अज्ञानी को इसी से जगत के साथ रहते नहीं बनता और ज्ञानियों को बड़े प्रेम से बेखटक इसी जगत में रहते बनता है, चाहे ये भोग-त्याग या आराम में हों—सब में एक रस। पदार्थ रूप आप हैं, यह भ्रम निकलते ही पदार्थों में रहने वाले शुद्ध अविकृत रूप को देखते बनता है । पदार्थ भ्रम नहीं—पदार्थों में 'वे ही सत्य हैं' यह भ्रम है । सत्य तो अपना आप है । अपनी सत्यता को जानने पर पदार्थों की काल्पनिक सत्यता भ्रम में व आकर्षण में सुख-बुद्धि में नहीं डाल सकती ।

इसी प्रकार दूसरी वृत्ति है ईर्ष्या । जितनी बुरी इसे समझा जाता है उतनी यह नहीं है । यह तो किसी अन्य का बड़प्पन जहाँ भी देखेगी अपने आपको जगायेगी कि आप से भी बड़ा कोई है ? क्यों यह आप से बड़ा बन या दीख रहा है । ईर्ष्या—अपने आपसे कोई भिन्न महान है—यह सुनना-देखना पसन्द न करेगी । है भी तो नहीं अपने से बड़ा कोई । पदार्थ या ज्ञान भी कहीं द्रष्टा से बड़ा है ? ज्ञान भी कहीं अपने आपके समान है ? अतः ईर्ष्या को सर्वत्र सदैव अपने समान चाहिये । न छोटा न बड़ा । छोटा देखेगी तो घृणा करेगी, बड़ा देखेगी तो ईर्ष्या करेगी ? यहाँ तक कि ईश्वर की यदि महिमा बार-बार सुनी तो वहाँ भी चालाकी से श्रद्धा आदि करती हुई चाहती यही रही कि यह आपसे बड़ा क्यों ? यदि यह बड़ा है तो मिले । और मिलकर या मिलाकर उसे अभिन्न कर लिया कि यह तृप्त होकर स्वस्थ होती है । अन्यथा नहीं । मुझसे कोई छोटा नहीं तो बड़ा भी न हो । मैं ही मैं हूँ । सर्वत्र

मानों मेरे अन्तरतम इस भाव को देखकर ईर्ष्या जब भी कभी अन्यत्र किसी को बड़ा सुनती है तो मानों कूद पड़ती है कि कहाँ से तू बड़ा बनकर आया, यदि यह आत्मा न होता ?

सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ लक्षणों से सम्पन्न ईश्वर को भी चाहकर वह भी स्वाधीन हो गया—एक हो गया—यह बताना व एक होने पर ही तृप्त होकर— ईर्ष्या की समाप्ति या स्वस्थता होना एक बड़ा रहस्य ही निकला। अपना आप सदैव निर्दोष है। फिर ईर्ष्या आदि को विकार कहकर हम आत्मा को दोषी कैसे बनने देंगे ? यह तो आत्मा की सहज सत्ता है कि वह अपने समान देखता है सबमें अपने आपको और जो जैसा होता है वैसा ही चाहता भी है। नामरूप अपने से छोटे हैं, विपरीत स्वभाव वाले हैं अतः उनसे घृणा है और यही त्यागहै जो उनके समान अपने को नहीं देखता व ईश्वरादि को बड़ा न समझकर निजरूप देखना यह कोई दोष नहीं यह तो यथार्थता है।

अतः माँग अपने आपकी है व ईर्ष्या में भी अपना ही आप देखा जा सकता है— देखा गया है। क्योंकि है ही।

ठगों का ज्ञान

जिस स्त्री का पति मर गया हो, जिसे कोई सम्बन्धी व संतान भी न हो उसके पास यदि उससे प्रेम करने वाले अनेकों व्यक्ति आते हैं तो जानते हो वे कौन होते हैं केवल ठग। सभी चाहते हैं कि एक दिन यह मरेगी और जिससे प्रेम होगा उसे ही सब कुछ दे जायेगी।

अज्ञानी—आत्मज्ञान अथवा धर्मज्ञान शून्य व्यक्ति के पास एक तो होता ही क्या है और होता भी है तो वह वही होता है जो जाने वाला होता है जिस पर उसके समान हजारों की कुदृष्टि-केवल भोगमय नजरें—लगी होती हैं।

यदि आप विचार करें तो पता लगेगा कि हर पदार्थ यम का दूत है जो ललचा ललचाकर, चित्त को फँसाकर शरीर को भोग द्वारा क्षीण करके मृत्यु तक ले जाकर

यमराज के हाथ पकड़ा देता है। इन्द्रियाँ के कोई भी भोग जब आने के पूर्व आने पर एवं जाने के बाद तक परेशान करते हैं तो परेशान करने वाला भला सखा कहलायेगा। यह भी कितनी विचित्र बात है कि जिन जड़ पदार्थों को ज्ञान नहीं, जिन्हें अपने साज सम्हाल के लिये चेतन की आवश्यकता होती है। जिसके लिये यह कहा तो जा सकता है कि इनका मेरे बिना काम कैसे चलेगा वहाँ हम यह कहते हैं कि इनके बिना हमारा काम कैसे चलेगा और जिन बच्चों ने–देहो ने–अपना-अपना प्रारब्ध साथ रखा है जो आगे भी हमारे बिना बहुत कुछ कर लेगें; हमारे देह नाश के बाद उनका हमें कुछ भी नहीं देखना है। उनके लिये हम कहते हैं कि मेरे बिना इनका काम कैसे चलेगा ? कितनी उल्टी धारा है चिन्तन की ! क्योंकि इन ठगों के फेर ने हमारी बुद्धि भ्रष्ट कर दी ये हमें सीधे यमलोक (यातनाओं के लोक) में ले जायेंगे। यातनाओं का लोक इसके अविचार में यहाँ भी निर्मल हो जाता है देखते रहिये चारों ओर।

जिन पर नियमन नहीं हो सका वेही यम बनकर हमें सोते जागते पेरते नजर आयेंगे ।

अपने देश में तृप्त मुझ व अन्नाकर्षित न रह सकने पर परलोक के पूज्य कहाने वाले देवता व यहाँ के भी पूज्य हमारे चित्त को और यहाँ के जीवन के आनन्द को छीनते नजर आयेंगे। अर्थात प्राप्त बर्त्तमान में अपने आपमें तृप्त न होकर हमें सभी ठगों के समान ठगते ही रहते हैं। चाहे शास्त्र हो, देवता, हो, साधन हो, संबंधी हों या अपने शरीर मन बुद्धि व इनकी वृत्रियाँ हों। हमें तो हमारे अपने आपके सिवा अन्य रूप ठग ही दीखते हैं। कोई इन्द्रियों को, कोई मन को, कोई देह को, कोई बुद्धि, चित्त व अहँ को ठगते, पेरते व व्यर्थ करते रहते हैं। यदि हम केवल 'अहम' में ही न टिकते तो तुरन्त यह अहँ किसी का साथ पकड़ कर अहँकार बनता हुआ भूखा प्यासा व विकारी दीखने लगता है।

मानो अपना अपने सिवा कोई अन्य नहीं। अन्य सब ठग है। अतः अनन्य अपने आप में रहना ही सब ठगों से मुक्त रहना है। अपने आप में रहकर (फिर इन ठगों के साथ अचाह बन कर रहने में) इन्हें फँसाने—यमराज तक ले जाने–की कोई हिम्मत नहीं। फिर तो आपही इन सबके लिये यमराज है। इनकी यही चाह थी कि या तो आप अपने में रमिये नहीं तो हमारे साथ खेलिये व चलिये दुःख सागर में तैरने। पर जिसने इनकी इन आँखों में यह पढ़ लिया वही बुद्धिमान चतुर मानव इनका रस व अपना रस लेता हुआ धन्य होकर मुक्त स्वच्छन्द व प्रतिष्ठित होता है। वही इनका सही उपयोग करेगा। ये खुद सही रास्ते पर नहीं चलना जानते, चलाना पड़ता है। पर तब जब खुद सही होकर सही मार्ग चुने, और इन पर अपना ही सही (हस्ताक्षर) हर कहीं करता चले तब जिस विधवाने इन पदार्थों से उपरामता कर ली है जिसे अपना यहाँ अब कोई नहीं दीखता न चाहे वही इनके झाँसे में न आकर आत्मस्थ रहकर प्रसन्नता से जीवन काटती है। पदार्थों का क्या सोचें ?

तन मन धन दोषी केवल आत्मा निर्दोषी

●

कोई यह सोचे कि अच्छी सी अच्छी युक्तियों द्वारा हम अपने तन, मन, व धन को निर्मल निर्दोष बनाकर ही रहेंगे, और तभी हम शुद्ध कहे जा सकते हैं जब ये तीनों निर्दोष होंगे—तो यह समझना नितान्त भूल है। ये कदापि निर्दोष न होंगे व तुम कदापि दोषी न होंगे। यही एक ध्रुव सत्व है। यह न सोचें कि चाहे जो करते रहें तब भी हम शुद्ध हैं परन्तु यह कि आप ही एक ऐसे हैं जो कदापि इन तीनों में रहते हुये भी निर्दोष बने रहते हैं। जिनका दोषी स्वभाव है, जो स्वयम् प्राकृतिक विकार हैं वे निर्दोषी कैसे होंगे ?

यह तन ही देखिये जिसकी उत्पत्ति ही पूर्व की जगदाकार भोग वृत्रि के द्वारा हुई है, जो उत्पन्न ही अशुद्ध इन्द्रियों द्वारा एवं गंदे गर्भाशय से होता है—जिसके नस-नस में सर्वत्र मैल ही मैल रहता है, जीवन पर्यन्त जिसे कभी निर्गन्ध न कर पाये एवं जरा सी चूक में जो गंध फेंकना शुरू कर देता है क्या वह भी शुद्ध हो सकता है ? जिस शरीर में इतनी बेइमानी है कि रात दिन समय-समय पर इसकी सेवा होने पर भी, कभी किसी व्यवधान (अन्तर) पड़ जाने पर जरा देर भी क्षमा न कर कार्य बन्द कर के जीवन का आनन्द खो देता है। मजदूर भी कभी आज कल पर ठहर जाता है परंतु वह कभी नहीं मानता। ऐसा कृतघ्न यह स्वभावी कहाँ से बना है ? सारे गुण जिसकी आसक्ति में उत्पन्न होते हैं एवं जो अपनी ही इन्द्रियों की सेवा में दिन रात विषयों की ही धुन में लगा रहकर देवता, योगी, भक्त, तपस्वी को भी गिरा देता है, तो साधारण पामर मनुष्य की तो बात ही क्या है ? उसी के संग में गिरना होता है—जब जिसका हुआ। यह स्वयम् उठता कभी नहीं, गिरता ही है। किसी भाग्य शाली ने अपने पवित्र साधनों द्वारा यदि अपनी बुद्धि को ऊर्ध्व किया भी तो पूजा लेने को झट यही बेईमान आगे आ जाती है। अवतारों को भी देह धारण करने पर ही दु ख मिले नहीं तो क्या जरूरत थी उन्हें दुःख की ? भले वे न मानते थे परन्तु इसने क्या कसर रखी थी ?

सम्पूर्ण रागद्वेष,, कपट, छल, दंभ, पाखंड, झूठ, चोरी, व्यभिचारी, अनाचारी किसके लिये कोई करता है ? इसके लिये मोह, मद, काम, क्रोध, मद, मत्सर, किसके लिये ? इसके लिये। सम्पूर्ण जेलों की मारें व यातनायें किसके कारण ? इसके ही कारण। और बार-बार जन्म मृत्यु की शृंखला में कौन बंधता है ? इसी की आसक्ति। यह है ही ऐसा कि सदैव अपने से अलग हटने देता ही नहीं। पूजा करो, भजन करो, सत्कर्म करो समाधि लगाओ या मुक्त होना चाहो—इसे छोड़कर अलग होना चाहो यह द्वार पर

मानो चौकीदारी करता हुआ, घेरने की ताक में ही दिखाई देगा। इसे छोड़ने की–मुक्ति की–क्यों महिमा है ? इसी के दुःखों की याद से तो ? अर्थात् सम्पूर्णतः यह कदापि निर्दोष नहीं हो सकता। उत्तम से उत्तम भोजन, उपवास, व्रत, प्राणायामादि योग विधियों के बावजूद यह अपना गंदा स्वरूप नहीं बदलता। कारण यह है कि यह उन पदार्थोंका बना है जो सुबह से शाम तक गंदे हो जाते हैं। उसी का पर्त पर पर्त डालते हुए इसकी रक्षा व वृद्धि होती है। इसकी शुद्धि की आशा करना मानो रूई से अग्नि को जलवाना है। रात भर मन से अलग किया हुआ निर्विकारी मन जाग्रत में इसकी ही चपेट में आकर तो बिगड़ता है ? इसकी एक-एक कहे तो पोथा हो जायेगा। अर्थात यह समस्त दोषों का भंडार है। बचपन से मृत्यु तक यह दोष ही उगलता रहता है। यही नही कि मानव का ही मन दोषी है – सभी ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त—सभी देही ऐसे ही हैं। केवल अपने को दोषी देखते हुए ही दूसरों की अच्छाई भले दिखाई दे परन्तु उसे भी धारण करते ही उसके लिये रोना प्रारम्भ होता है। हर अपनी जगह से अन्दर-अन्दर रो रहा है और किसी तरह गाड़ी खींच रहा है। कोई भी तन धारी-तन की तृत्रि में—आसक्ति रहित हुआ है ऐसा नहीं ज्ञात होता। यदि यह सुखद होता तो अतृप्ति या तृप्ति में इसे छोड़ने की समय-समय पर क्यों इच्छा होती रहती है ? अतः निश्चय ही यह दोषी है, नहीं-नहीं दोष रूप है। और हजारों कल्पों से अनन्तों ने इस पर अपने वार चलाये हैं अनन्त साधन किये हैं इसके स्वभाव को पलटाने के लिए परन्तु वही पलट भले गया, यह मूढ़ न पलटा तो न पलटा। अच्छे-अच्छे साधन व्यञ्जनों में यह गया परन्तु उन्हें भी भ्रष्ट भले ही किया यह शुद्ध न हुआ। बड़ा मक्कार है, जिद्दी है, पतित है। कोई कहेगा कि आप बिगाड़ते हैं इसे। बिचारे इसका क्या दोष है ? मैं कहता हूँ जिसका स्वभाव ही न हो बिगड़ने का तो किसी के बहकाने पर भी न बिगड़ेगा। यदि बिगड़ेगा भी तो फिर रास्ते पर आ जायेगा। परन्तु यह तो कभी रास्ते पर आना तो दूर रास्ते वालों को भी बे रास्ते ले गया। खोट न पहचानते तो कोई इसे न छोड़ता। मुक्त बद्ध सबने इसे आखिर छोड़ा ही। बुरों का संग छोड़ना भला है। उनका भला करने की धुन में अपना सब भला भी बुरा कर लेना मूर्खता ही है। अब देखिये यह धन। क्या होता है धन ? सोना, चाँदी, रत्न, खेत आदि विभूतियाँ ! उनमें सोना चाँदी रत्न ये तो साक्षात जहर ही हैं। कच्चा तो कोई इन्हें खा भी नहीं सकता, न इनसे कभी पेट भरता है। सिद्ध किये भूत जैसे, हर समय खाने की, मारने की, धमकी दिया करते हैं। कन्याओं को मालूम है कि बचपन में ही ये सब मिलते हैं परन्तु मिलने के पूर्व ही कान-नाक छिदवाने की पीड़ा बिना नहीं मिलते और मिलने पर भी सदैव माँ बाप की चिन्ता के विषय व समझ आने पर खुद (कन्याओं) को ही जीवन भर दुख भय-चिन्ता एवं मृत्यु का शिकार होने का भय। शोभा तो एक लोभ ही होता है—यानी इन्हीं के लकहक में ही तो स्त्रियों में आपस में एकेक को छोटा बड़ा अच्छा बुरा समझने की कुभावना

आती रहती है। इन रत्नों को चाटो तो मृत्यु, रखो तो मृत्यु का भय–चुराये जाने का भय और आपस में एकेक पर सन्देह का कारण। धन की दृष्टि में कभी सच्चा व्यक्ति भी देखता है धनी को? सर्वत्र निर्दोष को भी दोषी कौन दिखाता है? यह धन ही सर्वत्र निर्दोषी सन्तों को भी जैसे यदि दोषी दिखाता है तो यह स्त्री शरीर। चाहे वह परम पवित्र शिष्य ही हो—वहाँ माँ बेटी, पिता पुत्र गुरू शिष्य भक्त भगवान का ही भाव क्यों न हो परंतु दोष इस शरीर के कारण जैसे आ ही जाता है वैसे ही इस धन ने किसी को कभी निर्दोष नहीं देखने दिया। जीवन पर्यन्त इसकी प्राप्ति के पूर्व प्राप्त करने पर एवं बिछुड़ जाने पर सबका प्राण इसी में अटका रहता है। जीते की तो बात क्या मृत्यु में भी यह सुख से मरने नहीं देता।

आप कहेंगे इसने थोड़े ही कहा है कि ऐसे करो। तो हम कहेंगे कि वस्तु का अपना गुण होता है जो जहाँ पहुँचेगा, वही भाव उत्पन्न कराता है। फल के साथ खुद उसे लेने की देखने की इच्छा स्वाभाविक ही होती है। इसी तरह धन में चिन्ता, भय, दुख, संदेह, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मद, लोभ, मोह, क्रोध, छल, कपट, अनुदारता, तृष्णा, दंभ, दीनता, अज्ञानसे जहाँ के ध्यान से जड़ता प्रमाद आलस्य सुख एवं भोग बुद्धि रूप दोष आते ही हैं। जब धनी धन से सन्त, धर्म, अच्छाई, देवताओं को भी खरीदने लगते हैं तो आश्चर्य एवं घृणा होती है। वैसे व्यक्ति कोई दोषी नहीं है, इस धन ने सब को दोषी बना रखा है। आज इन नेताओं को, अधिकारियों को निर्दोषी न धर्म, न सन्त, न देवता, न परमात्मा कुछ नहीं दिखाई देता। क्यों? धन मान मद व भोग। समाज व्यवस्था में दीन दुखी अज्ञानी अनाथ व्यक्ति माँ के दुःखों को न देख कर अधर्म आसुरी वृत्रियों का प्रावल्य जो फैला है—मद्य मांस व्यभिचार का प्रचार व हत्या में अराअकता कौन फैलाता है? धन मान भोग। धनी के दोषों को भी गुण कौन बनाता है? धन। एवं निर्दोषी को भी दोषी कौन सिद्ध करता है? धन; धन धनासक्त करके व्यक्ति को कहीं का नहीं रखता। ये मानव पृथ्वी छोड़ किस मोह में चन्द्रादि में जाना चाहते हैं? क्यों समुद्र व पृथ्वी पर अधिकार चाहते हैं? क्यों पृथ्वी के मानवों को लड़ा झगड़ा कर भूखा मारते हैं केवल धन के लोभ में। धर्म के नाम पर स्वर्ग की कामना वाले क्या चाहते हैं? धन, मान भोग। इस धनासक्ति ने जहाँ नास्तिक धर्महीन को बिगाड़ा वहाँ आस्तिक धार्मिक को भी तो बिगाड़ा है। देवता मानव पशु पक्षी संग्रह की कामना से क्या नहीं कर रहे हैं। प्रेम विहीन समाज निर्माण करता है तो धनासक्त। मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जिसके पास धन है वह चाहे कोई हो—विधायें (भौतिक परमार्थिक) साधन सिद्धियाँ—वही कंजूस प्राणी एवं भोगी पाया गया, उदार नहीं। ये भोग लुटाने से बढ़ते हैं यह रहस्य पहाड़ वृक्ष सरितायें कूप समुद्र नक्षत्र सब जनाते हैं पर कोई भी ग्रहण नहीं कर पाता–न तो सीख ही पाता है। जीवन के अन्त में

अपने को सब कुछ छोड़ जाना है यह जानते हुये भी किसी को इस विवेक में मौन स्थित नहीं होने देता ? यह अज्ञान और यह अज्ञान कहाँ से आया ? देह एवं श्वसनासक्ति से । पत्नी, खेत, सन्तान, मकान, आश्रम में भी कोई एक कन्या से कम नहीं जो जीवन पर्यन्त लाओ, लाओ के सिवा ले जाओ कभी नहीं कहते । सदाका गुलाम बनाकर जीवन की सारी शक्ति बुद्धि श्वासें अपनी गुलामी में खर्च करवा कर व्यक्ति को परमार्थ में झाँकने देना भी इन्हें पसन्द नहीं है—इन किसी को और इतने पर भी पाप छल-कपट से कमाकर लाने में पाप में फल भोगी होने में इनमें कोई तैयार नहीं । कितने धोखेबाज हैं ये सब ?

सन्त को सद्दृष्टि के या अपने भगवत कृपा रूप सत्बुद्धि के सहयोग से इस देह बन्धन में भी समाज सेवा के साथ इह परलोक की व मोक्ष की भी प्राप्ति सम्भव है । फिर भी बिना धर्म, सन्त या भगवत कृपा के तन बन्धन रूप दुष्टों से किसी को उबरने की कभी नहीं सूझती । मगर मुख में आने के बाद निकलना जैसे दुस्कर है वैसे ही इनके मोह में फँस जानेपर जन्म वासनाओं के कारण भ्रमना ही पड़ता है । हम तो देखते हैं कि भगवान भी अपनी माया—लक्ष्मी, सीता, राधा, रुक्मिणी, पार्वती के पीछे चक्कर में पड़े रहे तो औरों की बात ही क्या है ? शायद इसी कारण फजीहत की याद में भगवान ने अपनी लक्ष्मी को चंचला करके कह रखा है कि जाओ सर्वत्र घूम-घूमकर सबकी सेवा करो, मेरे पास न रहो और तब से ही शायद लक्ष्मी अपने दंद-फंद माया जाल में सबको फँसाती रहती है । जो भी इस प्रकार इनके मोह में अपना कचूमर होते देख भगवान को आर्त होकर बुलाता है—शिकायत करता है उसे भले ही माया के अनिच्छुक को यह डरके मारे छोड़े नहीं तो यह प्राण लेकर ही रहती है इसमें सन्देह नहीं है । न सुख से जीने दे न सुख से मरने दे ।

अब आइये यह मन सुखी-दुखी, पापी-पुण्यी, गरीब-अमीर, साधक-सिद्ध, देव, असुर, मानव, पशु-पक्षी, योगी, भक्त, नक्षत्र, नारायण और भगवान तक को यदि परेशान कर रखा है सबकी यदि कोई शिकायत का केन्द्र विन्दु है तो यही मन । अनेक लोभ मोह भय से भी अनेक साधन भजन ध्यान समाधि देव मंत्र-यंत्रके बंधन में भी आज तक यह नहीं आया । हाँ मानते रहे वे लोग परन्तु थे उस समय भी वे इसी के के चक्कर में । मिन्नतें करो चाहे डरवावो यह अपनी हरकतों से बाज नहीं आता । अज्ञान रूप सब एक ही पिता के ये राक्षस पुत्र राक्षस (तन धन मन) जहाँ भी जाते हैं अपनी मोहिनी में वहाँ अज्ञान का साम्राज्य—दुख, मोह, बंधन, भ्रम, अशान्ति, स्वरूप की विस्मृति एवं मृत्यु का ताण्डव मचा देते हैं । यद्यपि पहले तो तन धन में जो दोष हैं इसमें वे भी इसी मंत्री के रचे हुये होते हैं । परन्तु हैं वे भी इसी के हुसकारे हुये । इनमें इतना जहर है कि इसीके मारे सब—ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त—मूर्छित हैं । भगवान

को भी अपने मन की नहीं (यद्यपि है तो उन्हीं का यह मन) परन्तु यही मन जब यहाँ रावणादि के रूप में आ जाता है तो दौड़ते-दौड़ते व बुद्धि लड़ाते-लड़ाते नाकोदम कर देता है। और अन्त में यहाँ तक इसकी मजाल कि उन्हें (प्रभु को) इसका भी (चाहे वह कैसा भी हो) अपने में ही मिलाना पड़ता है।

संकल्प विकल्पात्मक यह मन अपने ही उत्पन्न किये किसी भी जगत को क्षण में उत्पन्न करके क्षण में ही बाधित कर देता है—सन्देह रूप विकल्प के द्वारा। अपनी शक्तियाँ दिखा-दिखाकर लोभ मोह में फँसा-फँसाकर यह किस तरह किसी को भुलाता हुआ कहाँ-का-कहाँ ले जाता है यह तो बीन के द्वारा पिटारे में जाने के बाद जैसे साँप को वैसे ही मृत्यु बन्धन व दुःख में फँसने के बाद ही ज्ञान होता है। बड़े-बड़े राक्षस, देवता, योगी-भोगी, वियोगी व सन्त भी अपने ही इस मन को खिलाते-खिलाते खेल गये अपने पतन तक खेल गये अपने जान पर। परन्तु इसे क्या दुःख हुआ ? कुछ नहीं। कभी-कभी तो यह हमसे समदुःखी-सा दिखाकर हमें भी अपनी सज्जनता पर आसक्त करता है परन्तु जहाँ इसकी ओर ध्यान गया कि ध्यान, समाधि सुख से यह भगा देता है और तब इसका यह कपट समझ में आता है। मृत्यु से भी भ्रमने वाला यह महान चोर है। जितने दोष हैं सब इसी में हैं। देखो न यह सारा जगत इसकी भिन्न-भिन्न रचना, शरीर, स्वभाव, कितना विश्वास है ? पर कहाँ से सोचता रहा है यह भोगी कहीं का। सर्वत्र भोगेन्द्रियों के छिद्र बना-बनाकर आप सबमें जा बैठा और अपना बनाया जगत लीलता रहा। साँप है यह जो अपने ही बच्चों को खा जाता है। इसे किंचित भी दया नहीं, दुख नहीं, सज्जनता नहीं, मोह नहीं ! जली, कपटी, लंपट, धोखेबाज !! कोई कह सकता है कि इसी से ध्यान दान व सेवा आदि के द्वारा अच्छे-अच्छे काम भी होते हैं तो ये सब इसकी महिमा नहीं, यह तो आपकी महिमा है जो इससे करवा लेते हैं। इसे अपने आप इनमें कभी रुचि नहीं। यह तो हर अच्छाई से भागना चाहता है। दसों इन्द्रियों के अतिरिक्त जिसकी कभी सच्ची दृष्टि ही नहीं, वह जो प्राण तक की फिकर नहीं रखता। अपने भोगों के पीछे वह कभी अच्छा कुछ कर नहीं सकता। बुद्धि को भी कभी बिगाड़ने की धुन में यह इन्द्रियों के भोगों में उसे खींचता हुआ दिखाई देता है। यद्यपि प्राण की परवाह व अपने आत्मा की दृष्टि सब कुछ देखा करती है। परन्तु यह कदापि नहीं देखता नहीं तो इतने जन्म की क्या जरूरत थी ? बुद्धि के साथ अगर लौटकर एक ही जन्म में मोक्ष एवं शान्ति प्राप्त कर लेता। अब तक के सारे मेरे शरीरों को घोट-घोटकर किसने मारा ? इसी मन ने। पहाड़ों के समान भोग किसने खाये ? इसी मन ने। परन्तु असल में इसे केवल भोगी इन्द्रियों में आने का ही हर्ष होता है, इसे कभी कुछ मिलता नहीं और इसीलिये सदा का भूखा 'यह' कदापि संतुष्ट न हुआ है न हो सकता है। तभी तो अनुभवी कहते हैं कि इसे भोग

मत दो इसे तो अन्तर लौटा कर अपने में मिला लो—जागते रहने पर इसे उधम के सिवा कुछ अच्छा तो करना ही नहीं है। परन्तु अन्तर क्यों लाया जाय ?

इसलिये कि अन्तराति अन्तर केवल तुम हो। तुम आत्मा हो। तुम सदैव शुद्ध हो। तुम्हारे केवल इसी साक्षी स्वरूप को केवल कभी दोषी या दुःखी जन्म मृत्यु वाला यदि बनाया था तो इन्हीं दुष्टों के संग में था। वास्तव में तुम केवल सदैव साक्षी ही रहे हो। परन्तु इनको देखा कि इन्होंने तुम्हारे साथ रह कर भी तुम्हारे निर्दोषी स्वरूप का रूप नहीं लिया। तुमने भले अपनी उदारता से इनके स्वभाव को समझते हुए भी मैं न मरे इसकी चिन्ता की थी। परन्तु नाशवान स्वभाव व आत्मा को दोषी बनाने की दुष्ट ताक में रहने के दुष्ट स्वभाव के फलस्वरूप इन्हें ही मौत मिलती रही है इन्हीं का बनाया संसार सदा मिटता आ रहा है।

अतः आपने यह देखा कि ये तीनों ही दोषी हैं। दोषी यों हैं कि इन्हें अपने से जहाँ भिन्न देखा तहाँ यही दोष इनके माथे चढ़कर उत्पातों का मूल बन जाते हैं ये। परन्तु जहाँ इस मन को अपने में मिला कर इससे यह कहलवाया कि मैं शुद्ध सच्चिदानन्द हूँ जहाँ यह अमन होकर सर्वत्र अमन हो जाता है। अपने निर्दोष स्वरूप की खुराक दिन रात इसे मिलती रहे तो भले यह शुद्ध रहे, नहीं तो तन धन के साथ केवल खेलते रहने पर तो कदापि शुद्ध नहीं होता। शुद्धि न प्रगटा सकता है। तनमन धन की त्रिकुटी (क्योंकि ये कुटते हैं न १) को जिसने खूब कूटकर कुटस्थ (साक्षी) बना दिया वही परम सुखी है। इनकी ओर ध्यान देकर जहाँ अपने को देखा कि कहीं कोई झगड़ा नहीं। ये भी अपनी समा तभी मचा पाते हैं जब हम अपने को भूल इन्हें खेलने का मौका देकर देखते हैं। द्रष्टा अलहदा होने पर भी सिनेमा में देखते ही देखते दुखी सुखी तो होता ही है ? विचार करने पर वहाँ अपना कोई भी व कुछ भी नहीं होता।

अतः उत्तम है तो यही कि हम अपने को पहचाने एवं इन तीनों में इनके स्वभावों को व करतूतों को समझ कर अनासक्त रह कर यहाँ की चीजें अपनी विभूति समझते हुए भी यहीं छोड़ जाने के पूर्व हृदय से छोड़ इनका (जन कल्याण की भावना से) सदुपयोग करें–समन बुद्धि आदि को स्ववश करके करवायें तभी बाहर भीतर दोनों ओर आनन्द ही आनन्द है।

इसे न सोचेंगे तो व्यर्थ ही झूठा आपको तनतन में, कण कण में क्षण क्षण में यही (आपका ही बाह्य ध्यान करा कर) यह मन व्यर्थ रुलायेगा। अमर को मृत्यु का भान करायेगा।

अतः आप स्वतंत्र हैं चाहे तो अपने में रह कर इनके साथ खेलें या अपने को भूल कर इनमें उलझें या इन्हे भी निर्दोषी बनाकर सर्वत्र निर्द्वन्द्वी का आनन्द लें। हैं आपही शुद्ध, अपनी शुद्धता जिधर बिखेर दें वही शुद्ध हो जायेगा।

अपने व्यापक तन को बढ़ाइये मन भी व्यापक हो जायेगा और सभी धन आपको अपना ज्ञान होने पर यह तन मन धन इन्द्रियाँ सब तृप्त होंगे, वासनाओं के गुलाम न होंगे। नहीं तो तन तन में आप हैं।

किसने बाँधा ?

एक मुमुक्षु (मोक्षेच्छुक) एक बार किन्हीं दो सन्तों के पास अपनी मुक्ति की इच्छा लेकर गया। सन्त दूर-दूर आमने-सामने बैठे थे। वह एक के सामने जाकर बोला—"प्रभु, मुझे बन्धन से छुड़ा दो, मेरी मुक्ति कर दो, मैं ऊब चुका हूँ अब ?" सन्त बोले ! वो जो दूसरे सन्त बैठे हैं न, उनके पास जाओ।" वह उधर दूसरे सन्त के सामने जाकर ऐसे ही गिड़गिड़ाया। वे सन्त भी यही बोले—अरे, उधर उन सन्तजी के पास जा, वे ही बड़े सन्त हैं, वे ही कर सकते हैं। "वह फिर उधर गया परन्तु अबकी बार वे जरा डाँटकर बोले, "बेवकूफ ! वे ही तो बड़े सन्त हैं, मुझ पर व्यर्थ तुझे टाल रहे हैं। "उधर ही जा।" वह फिर दूसरी ओर गया, परन्तु अबकी वे भी पैंतरा बदले हुये थे—पास बुलाया और एक जोर से चाँटा देकर बोले "उधर जा—कहा न ?" वह बेचारा असमंजस में पड़ गया। दूसरी ओर जाने की हिम्मत न करते बना। परन्तु दूर से ही यों कहने लगा-बड़ी आस लिये हुए आया था सरकार ! दोनों ही टालते हैं इतनी देर में तो सब कुछ कर सकते। दूसरा सन्त डाँटकर कड़का "मूर्ख, तुझे किसी ने बाँधा होता तो तू इधर से उधर जाता ? तू छुट्टा ही तो है। तुझे कोई नहीं बाँध सकता।" वह बोला "साहेब ! ऐसे नहीं घर द्वार जन्म-मृत्यु से उबारो अब "वे बोले–बावले, कभी जन्म-मृत्यु ने तुझे बाँध लिया होता तो दूसरी बार न जन्म ही होता न मृत्यु। तू सदा ही मुक्त रहा है। तू मुक्ति की कामना से ही मुक्त होता हुआ भी बन्धन मान रहा हैं; तू कभी किसी के बन्धन में नहीं है। यह भले हो कि सब तेरे ही बन्धन में हैं। तू मुक्त है।"

वह भक्त हँसने लगा। बोला, "तो गुरुदेव ! यही बात पहले सीधी तरह बता देते।" सन्त बोले "यहीं तुझे बन्धन नहीं है, यह दिखाना था, उस डाँट, कड़क या चाँटे में मार नहीं, प्यार था व तेरे मन को अपनी ओर खीचने का उद्देश्य था, तू तो सदा असंग है।" तो इसी प्रकार कोई बँधा नहीं है। चेतन जड़ के द्वारा कभी नहीं बन्धन में आता। केवल मानता है। मानने की दवा जड़ के पास नहीं है। उसे तो कोई चेतन सन्त सदगुरु जिसे स्वयम् का बोध हो गया है वही दे सकते हैं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म असंग व्यापक को कौन बाँध सकता है ? यदि हम अपने को न समझकर अपने ही शीशे के प्रतिबिम्बों को देख-देखकर डरें, मोहें या द्वेष करें तो यह उनका दोष नहीं, अपना है।

एक स्त्री ने जो अकेली थी ऊबने के कारण (क्योंकि वह कलाकार थी) अपनी ही हर तरह की सैकड़ों फोटों को निकलवाकर कमरे में लटकाया। अपने को शीशे के सम्मुख करके उसी प्रकार उन शीशों में भी फोटुएँ खींचकर भर दीं। अब उसे

अकेलापन लगेगा। परन्तु बिना बोलते चलते कब तक अच्छा लगेगा ये मौन नकली साथी ? यों उसने अपनी वाणी टेप में भरकर रख दी, और आते ही उसकी यह सुन-सुन कर मुस्कराये। परन्तु तब भी जवाब तो देता नहीं था। नितनूतन की चेतन की चाह वाले को ये अपने ही जैसे परन्तु असत्य व जड़ कब तक प्रसन्न करेंगे ? अब उसने अपनी रील खिचवायी व टेप भी साथ ही भर लिया व सिनेमा के समान या टेलीविजन के समान देख-सुन कर वह अपने को बोलती, अपने समान देखती व प्रसन्न होती। परन्तु यह क्रम भी कुछ दिन के बाद ना पसन्द हुआ। सब ओर अपनी ही फोटुएँ, छाया में, अपने जैसा होने पर भी अपने समान की चाह पूरी न हुई। तब उसे सोचना ही पड़ा—अपने द्वारा निर्माण किया अपने जैसा भले ही लगेगा परन्तु अपने समान होगा नहीं। क्योंकि अपने समान तो आप ही हैं। आप एक हैं एवं एक ही रहेगा। तब वह तृप्त हुई।

इसी प्रकार यह बुद्धि कि हम अपने "जैसे कोई और है" यह मानकर भले ही कितना भटकें परन्तु अन्त में हमें अपने में आये बिना शान्ति न होगी।

इन्द्रियाँ चाहे व्यवहार में लगाइये परन्तु आप अपने में ही रहें। आप इन किसी जैसे न बने न किसी को अपने जैसा बनायें। न आप उन जैसे न वो आप जैसे बनेंगे। क्योंकि यह कल्पित है व आप चेतन कल्पक हैं। तो आप को बाँधा किसी ने नहीं। बन्धन को आप ही जब तक अपने में बाँध रखें, रखें वह न आप छूट सकता है न किसी को बाँध सकता है। तो आप सत्य में नित्य ही मुक्त हैं। इच्छाओं वासनाओं को आप को कभी बाँधने की हिम्मत नहीं है। जब आप समझते हैं कि इन्होंने आपको बाँध रखा है उस समय भी बन्धन की कल्पना व इन सबको आपकी ही छोटी-सी एक वृत्ति ने बाँध लिया होता है, यह आप नहीं देखते। दृष्टा को कोई दृश्य नहीं बाँध सकता। वह स्वयम् जड़ है। आप नित्य मुक्त हैं। बन्धन और मुक्ति सापेक्ष हैं—कल्पित हैं—आपके कदापि नहीं हैं।

जीवन एक साज

गायक के साज में सभी वाद्य होते हैं कोई सदा ही पिटता है। तो कोई छेड़ा जाता है, तो किसी के कान ऐंठें जाते हैं। किसी को घिसा जाता है आपस में लड़ा लड़ाकर तो किसी की दम तोड़ी जाती है धम्मन चला-चला कर तो किसी

को मार-मार कर तोड़ा जाता है परन्तु गायक के गाने में ये बिचारे कभी उसके खिलाफ जाना पसन्द नहीं करते। उसकी खुशी में अपनी हर दूर्गति करवाने में कुछ भी हिचक नहीं, शिकायत नहीं। जैसे हमारा यह शरीर गाने में जब मन करता है तो गला हाथ पैर, फेफड़े बुद्धि आँखें कान सब उसके अनुकूल बन कर चाहे वह कोई राग गाये सबके अनुकूल रहकर उसकी खुशी में समरस होते हैं।

साज किसी गायक की शिकायत नहीं करता, फिर गायक को क्यों साज की शिकायत करनी चाहिये ? कोई राग हो या ताल वाद्य अपना ही ताल व राग समझते हुये भी किसी राग में 'राग' नहीं रखते तो किसी 'ताल' से बेताल भी नहीं होते। रोने, हँसने या क्रोध आदि चाहे नवरसों के कोई भाव में गायक हो—वे साज न हँसते हैं न रोते; वे तो सदैव गायक के अनुकूल रहते हैं। ये हर हाल में मस्त हैं रोये गाये कोई ये तो ज्ञानी—जैसे शोक-हर्ष रहित ही सदैव रहा करते हैं।

अर्थात् भोक्ता ही दुःखी सुखी होता है कर्मी (देह व इन्द्रियाँ) जो कर्त्तव्य करता है वह कभी इनमें लिप्त नहीं होता। यह साज भी कर्त्तव्य करता है भोक्ता नहीं होता जो किसी का राग पकड़ सकता है तो भोग भी सकता है परंतु नहीं। इन्हें दुःख व सुख दोनों अपने अतिथि मालूम होते हैं ये सभी का स्वागत करके खुश करके उन्हें भेजते रहते हैं। क्योंकि ये निज में ही रहते हैं किसी में नहीं। सहयोग किसी को दें परन्तु रहते आपने आपमें ही। आश्चर्य तो तब होता है जब भिन्न-भिन्न प्रकार के धातुओं व काठों में भिन्न-भिन्न नामरूप आकार व नाद होते हुए भी समय पर एक रूप एक में सम्मिलित होने का गुण हैं परन्तु 'हम' चेतन उससे भी अपने को विशेष मान कर भी (उनके निर्माता होते हुए भी)। भिन्न-भिन्न रूपस्व भावों के मानवों से नहीं मिल पाते। नाद समस्त जड़ चेतन का भेद हटा कर सबको 'सम' में बाँध लेता है। उसी समसे संबंधित होने से ही संगीत (सम-गीत) उसका नाम है। परन्तु संगीत के प्रेमी होते हुये, गाते-गाते बजाते बजाते भी जाने कहाँ से भेद और अहं गायक वादकों में घुस पड़ता है ? अर्थात् ये सुनते नहीं, सुनाते हैं। वाद्य सुनते हैं, सुनाते नहीं, इसलिये उनमें अहं नहीं होता जो पृथकता निर्माण करे। वाद्यों में समस्त भिन्न-भिन्न राग व ताल केवल वाद्य ही बन कर स्थित हैं। आप जो चाहें उसमें से निकाल लें। यानी निरंह में सब रहता है। परन्तु अहंकारी का जो है वह भी लुप्त होता जाता है।

कुरूप, कुडोल होने पर भी समरस होने की एक विभूति या परम स्थिति से ये भी पूजे गये, साजे गये, सँवारे गये। गायक वादक के प्राण बन गये; उसकी जीविका के पोषक बन गये। परन्तु हम उसे सुनकर भी सुन्दर सुखी होने पर भी अतृप्त हैं। किसी के पोषक नहीं तो शोषक बनते हैं ?

पशु की चमड़ियाँ, खदानों की धातुएँ, जंगल के काठ, बाँसों के सूखे कड़े व पोले टुकड़े, फलों के छिलके, मानव के लिये तथा समस्त प्राणियों के लिये सहानुभूति

सम्पन्न हैं, मानव क्यों नहीं होता ? ये जड़ कहलाने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म व दूरस्थदेव गणों को आकर्षित कर लेते हैं—पता नहीं चलता कि आने वाले इन पर रीझकर आते हैं या गायकों पर ? वास्तव में खींचते हैं इनके निष्काम भाव, फल ले जाता है चेतन स्वार्थी मानव । ब्रह्म को भी नाद ही पसन्द आया । वह भी नाद ब्रह्म ही कहलाता है । गायक रसिक है, वह तो शायद पसंद न भी आये परन्तु प्रकृति के ये पदार्थ उन्हें भी देवताओं को, प्रगट कर लेते हैं । बाँसुरी उन्हें भी तो इसीलिये पसन्द आई ?

हमारा जीवन भी एक साज ही है । हम भी अपने साज के समान (धन माल शरीर, पदार्थ मकानादि) इनसे अनाशक्ति से तटस्थता का समरस होने का, निर्मान सेवा परायण होने का तथा ब्रह्म को भी अपने में स्थित रखने का गुण ले लें; और अकर्ता अभोक्ता कर्तव्य परायण रहते हुये, हर्ष शोक रहित अपने आत्म रस का जो कि स्वयंमेव सब में सम है—जिसका ही यह जगत संगीत मय ताल सुर में आबद्ध है—रसलें ।

अपने तन मन इन्द्रिय, प्राण बुद्धि के भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म स्वभाव आकार व शक्ति में ही आपका जीवन-संगीत हो रहा है । ये आपके साज वाद्य हैं । कभी आपके साथ आपके समान भोगी नहीं होते । आप इनमें सम रूप में सब विषयों में स्थित हैं । आपको ये छोड़ते तो नहीं । आपके राग द्वेष में ये सम्मिलित होते हैं परन्तु दुःखी नहीं होते । आप भी ऐसा ही समगीत गायें जो इनमें भी वह ब्रह्म रस प्रगट करें जिसमें यह और आप आनन्दरूप ही नजर आकर समाधिस्थ हो जायें । नाद में भी समाधि है । नाद में भी बुद्धि देहातीत एक जगह स्थित रह कर ही अनेकों प्रकार के ताने अलापें व गानें ढ़ूँढ़ पाती हैं जब तक देह को न भूले । कोई भी गायक या वादक आनन्द, स्फूर्ति समपद जनता को बाँध नहीं पाता । जो इस विन्दु को भुला पाया उसे वह सिन्धु हाथ आता है जिसके हाथ में ही होकर ये वाद्य, ये गले, ये बुद्धियाँ, अपना ब्रह्म रस टपकाती रहती हैं जिसमें तल्लीन श्रोता, तन, मन, दुःख विकार भिन्नता, समय, व काल तक को भूल कर साक्षात ब्रह्म ही हुये होते हैं । जो विषयी एक घंटे को मन व तन एकाग्र स्थिर नहीं कर सकता वह वहाँ रात दिन व्यतीत करता है । भूख प्यास, पाप पुण्य, भावाभाव से ऊपर निर्द्वन्द्व वह केवल समाधि—सुख का ही रस लेता है । संगीत में रमें साज भी ब्रह्म के ही सहोदर हैं, पार्षद हैं, इन्हें मिले बिना वह भी नहीं मिलता । परन्तु गायक स्वयम् ब्रह्म हुये बिना किसी को ब्रह्म नहीं बना सकता ।

अतः हमं भी साज बजाना व सजा को काटना (खत्म करना) जाने तथा आनन्द राजा को पहचान कर सजा व कजा को रजा (छुट्टी) दें ।

साज में सजा है जो वही तो यह साज है, आज यह जान लो कि इसमें यह राज है,
राजा तो स्वयम हैं दरबारी हैं, देहादि नर्तकी है यानी गाये मन राज हैं,
इन्द्रिय अरू प्राण हैं साज और बादक गण मस्ति से खिच आये देवन के साज हैं,
गायें, रसिक आप गायक बन ब्रह्मदेव सुने और सुनावे स्वयम सिर ताज हैं।

दखल न दो

प्रकृति के किसी भी अंश में आप के लिये कोई भी विरोध नहीं है। प्रकृति का हर अंश आप के शरीर का सहयोगी है। जैसे बच्चे वे हैं वैसे ही यह शरीर भी उसी का बच्चा है। जैसे वृक्षादि को उससे उनकी जीवनी के लिये तत्त्व अदृश्य रूप से मिलते हुवे वे पलते हैं वैसे ही आप के शरीर के लिये लगने वाले समस्त पदार्थ जिन्हें आप चाहा करते हैं वे पहले ही से प्रकृति निर्माण करने में लगी हुई रहती है।

न नक्षत्र, न तारे ग्रह, न देवता, न विश्व की कोई शक्ति आप के शरीर की विरोधी हैं; विरोधी है केवल आप का यह भाव ही कि मेरे कोई अनुकूल नहीं—सब विरोधी हैं। जो सोते हुये भी आप के शरीर को स्वांस देती है, जो आप के बिना सोचे ही आप को उठने के पूर्व सम्पूर्ण धरतो (सूर्यादि) को पश्चिम की पूर्व व पूर्व की पश्चिम लाती रहती है आप के लिये कुवों तालाबों, बादलों व नदियों में जल, नाक में स्वांस प्रकाश फल फूल सब्जियाँ अन्नादि रूप में हर प्राणी मात्र छोटा बड़ा लगा हुआ है और इतने पर भी यदि आप माने कि प्रकृति मेरे अनुकूल नहीं तो, आश्चर्य है।

प्रकृति के मौसमों को समझते हुए जिस प्रकार वृक्ष पशुपक्षी अपने जीवन को बदलते रहते हैं, क्या आप बदलते हैं? वृक्ष मौसमों की हवा की उनके कान में दी हुई फूँक (संकेत) में तुरन्त ही पतझड़ के रूप में अपनी सफाई करके नूतनता के स्वागत में तैयार होते हैं। क्या आप भी प्रकृति के इशारों को समझकर इस शरीर वृक्ष की सफाई करते हैं? यह स्थूल शरीर स्थूल प्रकृति का है केवल आपके इच्छानुकूल यह विशेष चैतन्य हो रहा है यद्यपि इसमें स्थूल देह का स्थूल विश्व से ही सदैव संबंध है। वहीं से यह आया, वहीं जायेगा। अतः आप माने चाहे न माने। शरीर उसी प्रकृति के

साथ ताल मेल मिलाये रखने की कोशिश में आपको दिखाई देगा। और आपको बिना पूछे ही इसी कारण प्रकृति में ही चुप्पे से प्रति क्षण घुलता जा रहा है। तो आप इतना ही करें कि विराट प्रकृति के इशारों को पहचान कर स्थूल व्यष्टि देह को समष्टि स्थूल प्रकृति से अभिन्न बनाये रखें उसके विपरीत न जाने दें।

आपके इच्छानुसार हर चीज जो विश्व निर्माण कर रहा है वह समस्त आप के शरीर द्वारा आप को प्रकृति दे रही है। शरीर माने जगत। इसके (देह) हर कतार में तलाश करने पर समस्त विश्व ही सूक्ष्म रूप से यहाँ मिलेगा। प्रकृति अनन्त है अमर है। यदि देह को प्रकृति के भरोसे प्राकृतिक बनायेंगे तो इसकी आप को चिन्ता नहीं प्रकृति स्वयम् ही गोद में उठाये इसे स्फूर्ति, शक्ति आयु एवं अनुकूलता देती रहेगी। केवल विरोध आप का होता है इच्छाओं के कारण। आप अपने परस्पर विरोधी शकी स्वभावों के कारण प्रकृति को सही-सही cure या recreation नहीं करने देते। प्रकृति में सर्वत्र संयम है, एक ताल वद्ध कार्यक्रम है। आपका जीवन इच्छाओं ने वि-क्रम कर दिया है। अतः शरीर स्थूल प्रकृति के अनुकूल रखें तथा मन सूक्ष्म प्रकृति के अनुकूल।

सूक्ष्म प्रकृति क्या है। प्रकृति का, विश्व विधाता के इच्छानुसार एक आज्ञा पालक मन। यह मन कर्म करता है विभूतियाँ कमाता व लुटाता है—निष्काम, निर्वैर, निःसन्देह। प्रकृति सर्व शरीरों के साथ निर्व्याज प्रेम करती हुई ऐसा मन धारण करती हुई (विधाता की इच्छानुकूल रहती हुई) अपने कोष अक्षय अमर करती रहती है। किसी का विरोधी न बन हरेक की जरूरतों की पूर्ति की सामग्री पूर्व से पूर्व जोड़कर लुटाने की आतुरता में प्रतिक्षा पूर्ण आँखों से सावधान रहती है। सब का जो प्रारब्ध है वह विश्व-विधाता ने अपना ही शरीर समझकर पूर्व निर्धारित कर दिया है। आपके शरीर का भी प्रारब्ध जो अभी या भविष्य में भोगना चाहते हैं वह पूर्व रचित है। प्रकृति ने उसे सम्हाला, पाला वृद्धि व शक्ति देकर आप के पास पहुँचाया है। अतः प्रकृति व आप की इच्छायें वे भी पूर्व चिन्तित हैं जो आप की सेवा में समय-समय पर प्राप्त हुआ करती हैं। भूत से वर्तमान होता हुआ ही भविष्य भी होता रहता है। आज जो आप के सामने है वह भूत की दृष्टि से भविष्य ही है परन्तु है यह वही जो भूत काल में आपने किया था। अतः भूत से भविष्य की उत्पत्ति होती है। यहाँ तक आप जानते हैं कि भूत से वर्तमान व वर्तमान से भविष्य परन्तु भविष्य कहाँ से आया ? भूतकाल से। अतः आप का प्रारब्घ आप की सेवा में लगा हुआ है।

इसका अर्थ आप पराधीन नहीं। आप का शरीर पराधीन है, आप की इच्छा के। आप की पूर्व की अधूरी इच्छायें व कर्म फल आप ने इस शरीर से जो चाहे थे सो मिल रहे हैं इसमें विरोध क्या है ? पुरुषार्थ आपका सही तब होगा जब आप अपने चित्त में उठते हुये वर्तमान या भविष्य के प्रारब्ध की फुरनाओं को परख कर जो जोरदार हों,

शीघ्र निकट लगती हों, उन्हें परखकर तदनुसार ही कार्य करें वही सुफल व स्वानुकूल होंगी। अन्य नहीं। आप तो जिसे देखते सुनते छूते हैं वही चाहने लगते हैं वह सब कैसे मिलेगा? यह हरेक की माँग करना तो शाहंशाह को भी मना है। उसे भी उसी की चाही चीजे—समय पर मिलेंगी--हर समय पर नहीं। योगी सिद्ध अवतार संत वही है जो विधाता की इन प्रेरणाओं को—अपने प्रारब्ध को पहचानता है और उसका आदर करता हुआ प्रसन्न होता है। विधाता का आदर अपना ही आदर है। क्योंकि वह अपना ही होता है जो हमें मिल रहा है। और विधाता भी तो आप ही थे—हैं व रहेंगे?

परन्तु विधाता भी अपनी निर्माण की हुई सृष्टि को एकबार आज्ञा देने के बाद दखल नहीं देता, विरोध नहीं करता वरन, तटस्थ होकर एक बार की चलाई मशीन की गति को देखता व मुस्कराता रहता है।

तो आप अपनी प्रकृति व प्रारब्ध दोनों को ही विरोधी मानकर दखल न दें। यदि आपको कोई इस समय के प्रारब्ध में असह्य हो तो आप एक हल्का संकल्प कर लें एवं प्रकृति को वह सोंपदे उसे वह बदल लायेगी। क्योंकि आप पर प्रकृति प्रारब्ध का प्रभाव नहीं है आप दोनों के आधार हैं, दोनों के नियन्ता, दोनों के स्वरूप से अलग साक्षी सच्चिदानन्द। आप के इशारे को ये सभी सहर्ष स्वीकार करेंगे। परन्तु आप अपने ही एक संकेत में संदेह कर के बार-बार उलटे सुलटे संकल्प लेकर प्रकृति में दखल दे देते हैं। अपनी ही आज्ञा को मिटा देते हैं, मना कर देते हैं। अतः निःसंदेह दृढ़ विश्वास से प्रकृति आपकी अनुगामिनी है ऐसा समझकर जितना समय आप देना चाहें उतना ही देकर निश्चिन्त हो जाइये। वह प्रकृति, आपको आश्चर्य होगा–कि उसी प्रकार आपकी आज्ञा पूर्ण करेगी जैसे आप प्रातः उठने का निश्चय कह कर सोते हुए ठीक प्रातः उसी समय जाग जाते हैं। किसने जगाया? प्रकृति नौकरानी ने—प्रारब्ध ने। अतः प्रकृति व प्रारब्ध दोनों आप के अनुकूल हैं—इनमें दखल न दें।

इसे समझते व बर्तते ही आप का स्वामित्व व प्रकृति का आनन्द प्रगट होकर स्पष्ट सुखदायी होगा।

सुख चाहो मत, दो

जो चीज दुनियाँ में कहीं न मिलती हो उसके लिये इच्छा करके अपने शरीर व मन का तत्प्रीत्यर्थ दौड़ा-दौड़ा कर थकाना, नष्ट करना या अतृप्त रखना भी कोई बुद्धिमानी है ? यदि कहीं सुख बाजार में मिलता होता तो कौन न ले लेता ? सुख के लिये भी (monopoly) एकाधिकार कर व्यापारी लोग महंगाई बढ़ाते जाते । क्योंकि माँग बेहद है । दुनिया का हर व्यक्ति मांग कर रहा है । कहीं-कहीं तो सुख बाँटने की दुकानें सी हो गई हैं, सुख के साधन भी बताये जाते हैं । परन्तु वे सब व्यर्थ हैं सुख नहीं सुखाभास सुख का भ्रम है । यदि देने वालों को सुख होता तो संतुष्ट होकर व्यापार न करते । स्वर्ग या समाधि सुख देने के ठेकेदार बहुत हैं । आजकल तो समाधि pills गोलियाँ बनी हैं परन्तु यह सब ढोंग है । सुख कहीं बाहर नहीं है, वह आप में है, आप स्वयम हैं ।

आप देखिये दिन भर का थका मांदा यह शरीर, चिढ़ा कुढ़ा यह असन्तुष्ट मन कहीं आराम, स्फूर्ति, शान्ति, सन्तोष न पाता हुआ जब रात को (आप अपने में) नींद में बुलाते, थपथपाते व सुलाते हैं तो वहाँ शान्ति स्फूर्ति व आनन्द तीनों पा गया होता है जो प्रातः इस सुख रहित दुनिया में (रात के पाये) सुख को ढूँढ़ने को आकाश पाताल एक करता है । क्यों ? यों कि आपने उसे समझाया नहीं कि वह सुख बाहर नहीं है अन्दर था व जिस विधि से प्राप्त होता है वह यह है । अन्दर लौटो, सबको छोड़ो व मुझे देखो ।

देखो (चित्त को समझाइये) मैं ही सुख स्वरूप हूँ जिसके पास आकर तुम निश्चिन्त व निर्भय, निर्विकार, संतुष्ट व शान्त आनन्द का अनुभव करते हो । मैं तुम्हारे साथ ही सदैव तुम्हारे हर मंजिल पर, व दौड़ में रहता हूँ । तुम सुख प्राप्त करने के लिये नहीं सुख देने के किये जाया करो । तुम्हें यह दिखाने के लिये ही कि जाग्रत जगत में सिवा मेरे अन्यत्र कहीं सुख नहीं है, भेजा जाता है । यदि तुम यह समझ गये हो तो जाओ सुख माँगो मत, चाहो मत, धोखा है । सुख कोई चाहे तो इसी विधि से देते रहो । न समाधि में, न ध्यान में, न भजन में व पूजन में, न वाद्य में न सुरा व स्त्री में न चुपचाप रहने या कुछ करने में है वरन सुखस्वरूप मुझमें ही सुख है सो जब तुम मेरी ओर जरा देर के लिये भी आते हो, मिल जाता है ।

पुरुषार्थ सुख प्राप्ति के लिये नहीं, दुःख निवृत्ति के लिये करें। सर्वत्र दुःख है और वह है अज्ञान का । सर्वत्र जो जिस प्रकार भी दुखी है उस-उस स्थान व कार्य के तथा

सुख स्वरूप निज के अज्ञान से है। अतः भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक ज्ञान की परमावश्यकता है जिसे लेना या देना है।

निज के व व्यावहारिक सही विधियों के ज्ञान से ही क्षणिक अन्तर कार्य से अथवा निज ज्ञान से अखण्ड सुख का लाभ होता है।

किसी के सुख पर द्वेष, ईर्ष्या या विरोध न करें। प्रसन्न होइये। सहयोग दीजिये, आपके हिस्से भी मिलेगा। अज्ञान भरे जगत में सुख की बड़ी shortage है, कमी है। अतः किसी ने कहीं से बड़े पुरुषार्थ से थोड़ा सुखाभास कमाया भी है तो आप छीने नहीं सहयोग माँगे तो दीजिये, नहीं तो आप अपने में ही सन्तृप्त रहें।

आज अपने सुख को न देखकर सरे के सुख को देख ईर्ष्या द्वेष व अप्रसन्न होने की आदत ने महान दुःख उत्पन्न कर दिया है, जो पता नहीं, बढ़ते-बढ़ते कहाँ तक पहुँचेगा—शायद इसी वृत्ति में, अन्त भी छुपा हुआ धीरे-धीरे आ रहा है—दुःख दाताओं का दुःख देने वाले दोनों ओर से मरते हैं—दे दे कर भय, चिन्ता, द्वेष से तथा फैले द्वेष के द्वारा अन्यों के दिये हुये आघातों से। अतः यह क्रम घटता नहीं, बढ़ता ही है। इसीलिये सूज्ञजन सुख न दे सकें तो दुख नहीं देते।

अपने तन मन बाणी से यदि हम इतनी ही सावधानी से विचार रखें कि किसी को कष्ट हानि या दुख न पहुँचे, सच में कहीं दुख न रहेगा तो आपको मिलेगा कहाँ से ? आज दुख है नहीं पैदा किया जाता है। कैसे ? दुख देकर। अनजाने में कुछ हो जाय तो अपने को प्राप्त दुःख के लिये किसी को दोष, किसी की शिकायत न कर, अपना समझ कर, तप की भावना से, भोगते हुये, किसी को न हो, यह फिर भी भावना करते चलें। सच में इसी एक विधि से कि दुख न दे एवं निज का ज्ञान करें तो कहीं किसी को किसी प्रकार दुःख न होगा।

यदि यह नियम है कि प्रकृति में जो आपने बोया है तो आपको वह असंख्य बनाकर देती ही है तो आप सुख ही बोइये। देकर चारों ओर सुख ही बोइये। देखिये आपको क्यों नहीं मिलेगा ? परन्तु यह नहीं कि आप दें तो नहीं और केवल चाहते रहें। जो चाहता है इसका मतलब उसने दिया ही नहीं है। जिसने दिया है उसे तो एक न एक दिन मिलेगा ही, वह दूसरे को झटकेगा नहीं। चाहने की आवश्यकता ही नहीं। प्रेम कभी एक तरफा नहीं होता। वह चुपचाप रहना जानता ही नहीं। वह अवश्य लौटेगा परन्तु जब तक वह लौटता नहीं आपको देते ही रहना पड़ेगा। उसी प्रकार जैसे अग्नि प्रज्वलित होने के पूर्व आप हवा और तिनके आदि डालकर एक बार प्रज्वलित करें फिर तो आप चाहे आप जगत को जलाइये वैसे ही प्रेम ज्योति को एक बार जगाइये बाद में आपको सभी ओर से पतंगों के समान प्रेम दाता ही दिखाई देंगे। फिर आपको कितना सुख होगा ? देकर लेना एक ईमानदारी भी है। बिना दिये लेना

बेईमानी है अतः आप दीजिये और लीजिये। देकर, बाँटकर रखने में बड़ी प्रसन्नता व विशेष स्वाद है। समस्त विभूतियों का स्वाद आयेगा दीजिये बढ़ाइये व स्वाद पाइये। यही सच्चे सुख का एकमात्र तरीका है।

सन्तों सज्जनों ने इसी मार्ग से हजारों वर्षों तक करोड़ों को प्रेम सूत्र में बाँध रखा है। मुक्त रखते हुये भी बंधे उनके प्रेमी महान सुख के अधिकारी हो गये हैं। दाता तो बहुत हैं परन्तु सुख दाता दुर्लभ हैं। आप और चाहे कुछ दे सकें या नहीं, क्योंकि और सब तो रहेगा भी नहीं—अब केवल सुख ही दीजिये, सुख चारों तरफ भर दीजिये व फिर पाइये। 'सुख दो, माँगो मत'। अतः महामंत्र याद रखें कि आप ही सुख स्वरूप हैं, चित्त को अपनी ओर खेंचे रहिये तथा किसी को भी दुख न दें और सदैव सुख पाइये।

'नमरूँ की कल्पना'

तिथि का तो पता नहीं परन्तु यह निश्चित है कि 'न मरूँ' की कल्पना जब से अपने में जागी है, अविनाशी होने की धुन सवार है। न जाने यह भाव खुद ने धारण कर लिया है या कि किसी ने भर दिया है। बहरहाल किसी का दिया या खुद का लिया हो, भर लिया हमने ही। स्वयम् शुद्ध अमर होने के कारण अन्तर से इस मरने की कल्पना से कभी प्रेम न हुआ, कहीं भी इसका आदर नहीं किया गया।

चाहे कोई कह दे कि मर जा। कहने से कोई तुरन्त मरता भी नहीं परन्तु छूत की बिमारी सी यह वाणी, लग न जाय इस प्रकार इससे सब बिचकते हैं। क्यों? यों कि जिसका नया श्वेत साटन का कपड़ा हो और कोई स्याही का छींटा डालने की धमकी दे तो जैसे सफेद कपड़े को बचाने के लिये वह छींटा बुरा लगता है तद्वत अन्तर से अमर-आत्मा बाह्य यह शब्द भी कि 'मर जा' पसन्द नहीं करता।

एक बात बड़ी अच्छी हुई कि मैं अविनाशी हो जाऊँ की धुन में ही मृत्यु से डर कर सम्पूर्ण देश देशान्तर लोक लोकान्तर देवादि शक्तियों साधनों का व शरीरों का अनुभव आ गया कि इनमें से कोई भी तो अविनाशी नहीं है जिनसे मैं अविनाशित्व की आशा लगाये हुए दीन हुआ हूँ ? और इसी प्रकार मृत्यु के भय से भागते बचते, मृत्यु को भी अब तक कोई न मिला जो कहीं उसे रोके। हाँ मेरे सामने, आस पास, सभी मरते दिखाई दिये जरूर । मृत्यु से किस तरह अब तक बचाया यह रहस्य तो मैंने अब तक किसी से पूछ भी न पाया न उन्होंने बताया ही । और उन्हें ज्ञात होता तो व मरते ? कदापि नहीं।

अनन्त काल में यह तो हाथ आया ही कि सब बदले, मर गये, परन्तु न मरने पर इस प्रकार मैं न मरने की कल्पना से अमरता का दाता व अमरता की कूंजी खोजता ही रहा ।

जहाँ एक बार मैंने यह सोचा कि मैं अब तक जैसे कौन-सा ही हूँ । 'न मरूँ' की कल्पना को थामें कैसे टिका हूँ ? नमरूँ की कल्पना को भी किसी ने अब तक न मिटा पाया । यह भी अमर हो गई । तो क्या मैं अविनाशी हूँ जिसके स्पर्ष से जिसकी चाह से यह भी कल्पना अविनाशी होती जा रही है । यदि मैं मरने वाला होता ती यह अब तक कैसे रहती ? यदि मैं दुर्वल होता तो कोई भी इसे मुझसे झटक लेते । तो फिर यही सत्य है कि मैं ही अविनाशी हूँ । और जब शास्त्र वेद सतसंग में झाँका तो वहाँ भी वे मुझे ही अविनाशी कहते थे । अब यह अनुभव मैंने अनुभव से कई वर्षों के परिश्रम के बाद अपना लिया है । तो फिर इस दुष्ट कल्पना को कि 'कहीं न मरूँ' फेंक देता हूँ । परन्तु इसे भी धारण करके एक अनुभवी रहस्य ही स्पष्ट हुआ कि मैं ही अविनाशी हूँ—बाकी सब-संसार दृश्य-नाशवान है । इस 'न मरूँ' की कल्पना ने सम्पूर्ण के सभी नाम रूपों में मुझे झाँकने व अपनी हस्ती को देखने का अवसर दिया और हर जन्म मृत्यु की कड़ी को जोड़ते हुए इसने ही मुझे यह व्यर्थ कर जंजीर पहना रखी थी। यद्यपि यह सत्य है कि समस्त जन्म मृत्यु के सिरों से सुशोभित काल महाकाल मैं ही हूँ ।

अब तक मैं डर कर कहा करता था कि मैं कहीं 'नमरूँ ?' परन्तु अब मैं दृढ़ता से कह रहा हूँ कि मैं तो कहीं भी नमरूँ । क्योंकि मैं ही अमर अविनाशी एक रस साक्षी आत्मा हूँ । मृत्यु भय ने ही संसार उत्पन्न किया, बढ़ाया तथा अविनाशी की स्मृति जाग्रत कर मृत्यु भय मिटाया है ।

अविनाशी का अधिकार क्यों ?

परमात्मा को सबको भय क्यों है ? क्यों ये नारायण सूर्यादिक समय पर मौसम आदि लाते हैं, समय पर उदयास्त होते हैं ? दीखता है इन्हें भगवान ? अपनी उत्पत्ति के पूर्व जो था उसे देखा ही नहीं इन्होंने, न अभी। इनके प्रकाश में इन्हें इनको जिसने इन्हें प्रकाश व शक्ति दी है उसे देखने की शक्ति ही नहीं है। समुद्र, पहाड़, वृक्ष, नदी अग्निवायु देवी देवता असुरादि सभी अपनी-अपनी अनन्त शक्तियों के होते हुये भी परमात्मा से क्यों डरते हैं ?

इतना तो अच्छा है कि हम मानवों से तो ये देवता अच्छे हैं कि अपने अक्षय (विभूतियों से) सम्पन्न करने वाले के प्रति ये कृतज्ञ तो हैं। परन्तु भय क्यों है ? यह सूर्य क्यों तप रहा है ? क्यों जलता है ? ये पहाड़ क्यों दिन रात अपनी फैक्टरियों में माल पैदा करके निर्मोह लुटाते रहते हैं। ये समुद्र क्यों खौलता हुआ स्थिर नहीं बैठता ? ये नदियाँ किसकी आज्ञा में अस्थिर हो कर सबकी प्यास भूख की चिन्ता में दौड़ने में थकती नहीं हैं ? कौन है परमात्मा ? यह काल भी सब की झाड़ू बनकर अपने कार्य में में (आखों में तेल डाले) सबको संचालित करता रहता है साफ करता है ? यह काल भी क्यों डरता है ? क्यों नहीं अपना उसे भी एक झपट्टा देता हैं ?

वेद कहते हैं—भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ?

इसके भय से अग्नि तप करती है, इसके भय से सूर्य तपता है, इसी के भय से इन्द्रादि देवता व वायु भी भयभीत होते हैं। तथा पांचवां मृत्यु जो प्रलय मचाता है वह भी इसी के भय से दौड़ा-दौड़ा फिरता रहता है।

आखिर क्यों ? इसी कारण कि जब से इनकी उत्पत्ति हुई है अब तक जिन-जिन पर इनका शासन इन्हें ज्ञात हुआ है इनकी झपट में वह नहीं आ सका है। ये अकेले या सब मिलकर भी न उसे खोज पाये हैं न मिटा पाये हैं। खोज लेते तो ये वही न हो जाते ?

जो जिससे उत्पन्न होते हैं, जो उसे मिटा न पाये; जो उसी से शक्ति बुद्धि एवं आयु पायें वे उससे डरते रहते हैं कि कहीं कोई भूल होकर शक्ति बुद्धि आयु से हाथ न न धोना पड़े।

अविनाशी जो सबके पूर्व का वही अब भी व इन सब के अन्त में भी रहेगा। अतः जिसकी अनन्तता है उसे ये कैसे जान सकते हैं ? अतः जिसमें अज्ञान अल्पायु व

अन्य विभूतियाँ हैं वही डरता है—उस अनन्त से। केवल आज्ञा ही इन्हें संचालित करती है दर्शन नहीं हुआ है अब तक। न इन्हें उसका दर्शन करने का सौभाग्य ही है—इनकी अवधि तक। वे तो वे हैं जिन्होंने इसी के लोभ में जो इन्हे न प्राप्त है—तप के द्वारा माँगा था सो आज इन्हें मिला है। परन्तु इसको जो घूमते-घूमते चक्कर इन्हें आये हैं उससे परेशान ये अब शान्ति भी चाहते हैं परन्तु नहीं मिलती। सृष्टि संचालन के मद में वे स्तुति प्रार्थना पूजा के लोभ व मान में दुःख पाते हुये भी इन उपाधियों से छूट नहीं सकते। प्राप्त सब कुछ तो समस्त जीव ही लूट लेते हैं इन्हें तो केवल लुटाने भर की आज्ञा ही मिली है—भोग की नहीं। अतः बड़े परेशान होने पर भी ये मुक्त नहीं हो सकते। साधारण-साधारण जीव इन्हीं के सामने मुक्त व मुक्त होते देखते हुए भी ये वहीं के वहीं रहे। किसी का दिया हुआ ये खा नहीं सकते। अनन्त काल के भूखे प्यासे ये परेशान हैं। और इतने पर भी परब्रह्म का दर्शन नहीं। ये तो सबके नौकर हैं।

अतः जो पूर्व पुण्यादि के अभिमान में हैं, वे ये कर्मचारी गण मूलतः श्रद्धा विनयादि गुणों के विना व मानव तन बिना, परब्रह्म का दर्शन कदापि नहीं कर सकने के कारण अपनी पूर्व की भूल पर पश्चात्ताप करते हुए भयभीत हैं।

अविनाशी रूप में सब शरीरों में होकर सर्वत्र से अपनी सृष्टि का संचालन ठीक होता है या नहीं यह स्पष्ट देखता रहता है। हरेक शरीर में जीव बन-बन कर गुप्त भेष में प्रार्थना इक्छाओं के रूप में अपने आदेश भेजा करता है जिन्हें इन सबको बरबस पालन करना ही होता है। उनमें भी 'यह' रहता है पर बताया न, कि बिना श्रद्धा व अन्तरंग वृत्रि के ये उसे देख नहीं पाते—आदेश तो पकड़ लेते हैं। और अन्तरंग वृत्रि उनकी ही पूर्व बृत्रियों के कारण उसने (बाह्य जगत को देखने की) कर रखी है अतः कैसे वे कल्पान्त तक देख सकें ? अतः जो किसी से मर न सके जिसके सहज स्पदनाओं में समस्त विश्व स्पन्दित हो व जो सबके पास खास होकर भी अव्यक्त हो, जो समस्त ज्ञान शक्ति चेतनता व आयु से अनन्त हो उसी का (कामना से धारण किये हुए शरीर धारियों को) भय होता है। समस्त जगत कामना का विकास है। आत्मा निष्काम सर्वाधार है। आप भी वही हैं। अतः आप ही इस छोटे शरीर में होकर आदेश देते हैं व उन महान् शरीरों में रह रहकर ठीक पालते हैं या नहीं यह देख कर संचालित करते हैं आपही को सब डरते हैं, वन्दना करते हैं चाहते हैं। आप आज तक किसी के मारे मर न सके ऐसा यह अविनाशी है यही देखकर ये लज्जित हैं, भयभीत हैं, आज्ञाकारी हैं।

आना जाना, आना जाना सा, न आना न जाना

●

स्वामीजी ! यह जीव मर कर कहाँ जाता है ? "किसी ने पूछा । उसे कहा गया 'जीव अमर है, वह कभी नहीं मरता।' वह बोले, "लिखा तो है कि जीव को चौरासी लाख योनियों में जाना होता है? फिर कौन करता है?" उसे कहा गया "यदि वह मर जाता तो जाना आना कैसे ? और फिर उसको जाते-आते किसने देखा ? यह प्रश्न जो मरने के बाद का है न पूछो न हम बतायें । क्योंकि न तुम मरें, न हम । कौन किसे बतायेगा ? यदि बतायें भी तो एक तो अनुभव बिना रह ही जायेगा । अतः जीते जी ही देख लें कि कौन मरता, कौन मरता नहीं व कौन आता जाता है ।"

"आप यहाँ आये । कैसे आये ? आप आये कि शरीर आया ? आया तो शरीर ही पर लाये कौन ? तो घर से यहाँ तक का रास्ता जो मन में वहीं उदय हुआ उसी में से मन अभी यहाँ तक रास्ता नापता हुआ प्राण के सहारे इस शरीर को यहाँ ले आया । परन्तु मन अभी भी आपका आपके पास ही है । तो वह देखा किसने कि मन में इच्छा हुई, कैसे वह प्राणों में तरंगित हुई, कैसे बुद्धि ने निर्णय लिया, कैसे नाड़ियों में सावधानी से समस्त शरीर को उठाये हुए यहाँ तक ले आई । शरीर को नाड़ियों के प्राण ने उठाया, प्राण को मन की इच्छा ने, इच्छा को मन ने व मन को आप उठाकर अब तक स्थित हैं । पर आया कौन ? शरीर लाया कौन ? मन । और आया किसमें ? तो केवल आप में । आप से बाहर गया होता तो आप को ज्ञान भी न होता । आप में ही मन का आना-जाना प्रतीत होता है, आप में ही मन तन सब स्थित है । परन्तु लौकिक दृष्टि में क्या कहते हैं ? कि हम आये । यह 'हम' आप अर्थ में नहीं । यह हम इन सबको साथ लेकर बोला गया है । परन्तु यथार्थ में आप आये न गये, आप में ही मन आया-गया मालूम पड़ा । अतः एक आता जाता है । कौन ? शरीर । एक आता जाता-सा है । कौन ? मन । व एक न आता न जाता है । कौन ? केवल आप (साक्षी आत्मा) ।

शरीर की अपेक्षा प्राण व्यापक हैं । प्राण की अपेक्षा मन व मन की अपेक्षा पूर्ण व्यापक आप हैं । अतः आपका जाना आना तो कहना ही नहीं बन सकता है । क्योंकि कहीं से कहीं भी मन जाये आये, आपके सामने ही रहेगा । इसी प्रकार आप रूप आत्मा में ही जो सर्व व्यापक है, इच्छा व वासना के कारण भर मन, आपमें ही स्थित लोक लोकान्तर की कल्पना करता हुआ, जाने आने का भान करता हुआ, सुखी

दुखी होता रहता है। और जाने आने का कारण भोग वासना है। जो भोगने का माध्यम—शरीर—क्षीण जर्जर समझ समझ कर त्यागता व ग्रहण करता रहता है। सब शरीर इसी मन के सामने हैं एवं सब शरीर प्राण के द्वारा मन ही उठाता है। परन्तु, इच्छानुसार हो शरीर देश काल, अवस्था, जाति, संस्कार, शक्ति, बुद्धि रूप सब भोग ग्रहण करता हुआ यह मन भ्रमित होता हुआ रहता है।

और आप इनके साक्षी हैं। कभी-कभी इनमें तन्मय होकर आप भी कह उठते हैं कि हम आये गये, मरे जीये पैदा हुए परन्तु असल में आप असंग हैं मुक्त हैं। होना हवाना सब इन्हीं (तनमनादि) का है।

प्राण मन के सहित शरीर केवल, दूरसे (बिना विवेक के) देखने पर, कर्ता भोक्ता आता जाता लगता है। परन्तु वैसे तो यह प्राण एवं मन ही कर्ता भोक्ता है। मन की दृष्टि से तन भी न आता न जाता है। अज्ञजनों के लिये शरीर कर्ता भोक्ता है। परन्तु आपके लिये तो मन तन सब आता जाता सा ही है वास्तव में है नहीं और आप तो न कभी कहीं से आये न गये। क्योंकि दृष्टा सर्वत्र हैं सदैव सर्वत्र है। एक ही है यही सर्वत्र सर्वउपाधियों को धारण किये हुये, सर्वत्र सुशोभित हो रहा है।

आना जाना कहना इसी प्रकार है जैसे कोई गाड़ी से सफर करने में कहे कि ८०० कि० मि० से आये, थक गये, आराम करेंगे। परन्तु वास्तव में थका वह क्यों ? क्या आप आये ? गाड़ी चली, रूकते-रूकते आई। आप तो आराम से आये। पड़े-पड़े आये। परन्तु मान लिया कि हम आये। क्योंकि दो स्थानों की—मंजिल के बीच की लँबाई स्मृति में रहती है। हम ही चले यह मानते हैं। भाई, पहिये भी घूमते हुए भी वही रहें डिव्बे भी वहीं इंजन भी वहीं कोई आगे पीछे नहीं गया। पटरी वहीं की वहीं। कौन आया गया ? केवल बीचकी लम्बाई ही कटी। स्मृति में पड़े नसों में से इधर उधर दृष्टि दौड़ी और भान कर लिया कि गये। पैर साइकिल पर, साइकिल वैसी की वैसी पेडल वहीं पर, सब वहीं तो मकान सामने जब उतरे तो लक्ष्य। क्या गया ? केवल प्रतीति। अतः आप न आते न जाते हैं सदैव तटस्थ सर्वत्र एक रस व एक ही हैं। बोलो पूर्णोहम्, शिवोहम्।

कारटून (व्यंग चित्र)

सृष्टि का हर चित्र मुझे तो कारटून ही लगता है। कारटून के स्पेलिंग को पृथक् लिखें तो बनेगा cart-to-on अर्थात् चल रही है जो गाड़ी। गाड़ी में ही देखो क्या चलता है ? बैल अपने ढंग के जो खींच रहे हैं। और चाहिये बिचारे पीछे-पीछे कल्हड़ते घिसते चले जाते हैं—ऊपर की खटिया सी भी ठुमक-ठुमक कर डटी हुई चलती सी दिखाई देती है। बैलों के पैर को देखो विचित्र वे चलते हैं ? नहीं। बैल क्या है जो चलता है ? प्राण व मन ही खींच रहा है। लगा पता ? सब वेढँगा ?

ब्रह्मा के चेहरे देखो चार। विष्णु के तीन, शिव की तीन आँखें, डूंडे बैल पर सवारी। ये हैं सृष्टि के खास संचालकों की झाँकी। कई-कई हाथ। गणेश जी का शरीर देखो हाथी का सूँड़, कार्तिकेय तीन सिर इन्द्र ? हजार आँखें। सभी व्यंग चित्र की भाँति सजे हैं। लगा सकते हैं आप अपने को इन जैसे अंग व प्रसन्न होंगे ?

कवियों की बुद्धि देखो। कहते हैं आपके दाँत अनार दाने के, आँख, कमल का पत्ता। हाथ पैर कमल। नाक, सुये जैसी हृदय कमल, चेहरा चन्द्र जैसे अव वैज्ञानिक खाक बराबर कुरुप देख आये हैं। बताइये यह आपको उपमा अब जँचेगी ? सर्वत्र व्यंग चित्र।

यह शरीर देखो—क्या तो हाथ, क्या पैर, क्या पेट, आँखें, कान, नाक सब में मैल, टेढ़े-मेढ़े, न जिसमें चलने की हिम्मत न ज्ञान, प्राण की ठोकर से चले, मन की सूक्ष्म नोंक (इच्छा) पर झूलें और इसी प्रकार इस गुलाम के भरोसे आप की समस्त सुन्दरता, आशायें व अभिमान ? वाहरे शरीर ! रोग का घर।

इसी प्रकार ये मकान अन्दर-अन्दर मिट्टी ऊपर से चिकने चुपड़े दीवानखान तो अच्छा बाकी सब मकड़ी के जालों से ढँके धूवें गंदगी के घर, चूहे चींटी छुपकलियों के द्वारा जीर्ण किये हुये ये हैं आपके मकान और यह है धन-जेवर, रत्न नोट जान का खतरा ये भी क्या है जो आपको लुभा रहे हैं ?

यह है आपका मान जो दूसरों के भरोसे होने के कारण आपको दिन रात ऊपर नीचे डोला रहा है। यह है रूप जिसको हर रोग खाये डाल रहा है, हजारों के मुँह जो लगकर जूठा है। यह है आपका परिवार जो आप अपना समझे हैं, जहाँ अपना-अपना राग गाने में सभी स्वतंत्र होकर आपको चूस रहे हैं।

जरा सृष्टि की उत्पति देखें। ये हैं आत्मदेव जो अनंग है और समस्त संसार निकाल लिया है इन्होंने। और निकला इन जैसा कोई नहीं, सब इनके विपरीत स्वभावी। यह है निराकार परन्तु निकाला सब साकार जगत और देखें। कि ये निःसंकल्प, निकाले संकल्प को। यह चित्त इसने बुद्धि अपने से विपरीत धर्मा निकाली। ये बुद्धि इसने मन विपरीत स्वभावी निकाला। यह है मन सूक्ष्म निराकार कल्पनायें निकाली जो कि स्थूल जगत बनायेंगी। ये हैं सतोगुण इसने विपरीत धर्म रजोगुण तथा रजोगुण ने तमोगुण निकाला। इस तमोगुण ने आकाश, निराकार व्यापक पर शून्य निकाला। और अब देखिये कि आकाश के बेटे बायु उलटे स्वभावी आकाश स्थिर तो ये चंचल। बायु से अग्नि निकला बायु चंचल तो ये क्रोधी। सर्व भक्षका अग्नि से उलटा जल और जल से उलटी पृथ्वी व पृथ्वी से ये समस्त रंग विरंगी जड़ चेतन उद्विज स्वेदज अण्डज पिण्डज सृष्टि हुई।

और इसी में हम रमते हैं जिनमें स्वयम् एकता नहीं हम उनमें एकता की आशा किये हैं। यह सब मजाक ही है विनाशी में अविनाशी की, मुर्दे के साथ रहकर अमर होने की, रोगों के घर देह में कुसंयम को साथ लेकर स्वास्थ्य बनने की एवं झगड़े बाज क्रोध कामको साथ लेकर शान्ति की आशा। हम सब मजाक कर रहे हैं। और मजाक ही मजाक है सब ओर।

ये सारे ही व्यंगचित्र हैं। गाड़ी चल रही है। कोई मजा नहीं है। व्यंग में थोड़ी ही देरतक मजा रहता है परन्तु वह भी दूसरों के लिए व्यंग करने में तो खुशी होती है। अपने पर व्यंग कसना व चित्र बनवाना पसंद नहीं होता। इसका अर्थ सही है। अपना व्यंग बनता नहीं है। या इतने व्यंग देखने पर अब छक गये हैं अतः कोई चित्र पसन्द नहीं आते।

मैं तो कहता हूँ सब व्यंग हैं यह समझकर इनसे अलग देखने की इच्छा ही समाप्त कर देना अच्छा है। हर व्यंग में कोई अर्थ होता हैं, कोई संकेत होता है, क्या ? कि जैसा देखते हो वैसा यह नहीं है कुछ हैं। यह भी समझलिया कि देखने वाला कोई और ही है—उसका चित्र ही नहीं बनता। वह हर चित्र में विचित्र है। व्यंग में विनोद होता है। सो मैंने समझा दिया कि मेरी खुशी ही हर चित्रमें व्यक्त की गई है। चित्र न खुश हैं न दुःखी फिर मैं क्यों दुःखी होऊँ ? मैं आनन्दस्वरूप अनन्त हूँ जिसकी ही यह सारी कला है। बस यह तो ठीक है बाकी सब मेरे बिना बेकार है। चित्र सब जड़ होते हैं मैं द्रष्टा चेतन हूँ।

है-हैसा

इस 'है' और 'है-सा' को यदि समझलें तो' हैसा में जो भय सा लगा हुआ है यह अवश्य ही निकल जायेगा।

इस समस्त सृष्टि में एक तो वह है जो अवश्य ही है। उसी के आधार पर बाकी यह सारा जगत रहता है जिससे हम आसक्त होते हैं जिसमें ही हम अज्ञान ज्ञान दुःख-सुख पाप पुण्य स्वर्ग नर्क मेरा तेरा जन्म मृत्यु का मान करते है। यदि असली है का ज्ञान हो जाय तो ऊपरी ये सब भ्रम उड़ जायें तथा हम भी उसी रूप में अपने को देखलें। देखिये। इस 'है' का कभी कुछ नहीं बिगड़ता। बिगड़ता बनता केवल 'हैसा का ही है। है-सा उसे ही कहते हैं जो है नहीं परन्तु है जैसा लगे। इसके लिये दृष्टान्त लें।

स्वर्ण का डेला। स्वर्ण के डेले में केवल स्वर्ण के सिवा कुछ भी नहीं है। स्वर्ण के डेले में केवल है तो सोना ही हैं। फिर यह डेला क्या है? 'है-सा' अब देखिये कि इसी है-सा डेले को पिघलाइये सोना तो रहेगा। काटिये, पीटिये, टुकड़े करिये परन्तु रहेगा सोना ही। डेला तो केवल प्रतीत होता था। परन्तु जो सोने से भिन्न कुछ न रहे और सोने को स्पर्श भी न करता हुआ आप ही आप ऊपर सब कुछ बनता मिटता बदलता सा लगे इसी को 'माया कहते हैं। यही दृष्टान्त कहीं भी लगाया जा सकता है। ढेले के मिट जाने के भय से सोने का कुछ भी क्षय या नुकसान नहीं हुआ। व्यर्थ भय सा लग रहा था। यह है-सा बिना है के जाने सदैव अज्ञानियों को भय दिखाता रहता है।

इसी प्रकार अपने ऊपर बदलने, पिटने, मिटने वाला यह डेला शरीर-बिल्कुल न बदलने—हर समय इसके बदलते स्वरूप में ज्ञाता रूप में रहने वाले 'हम' को उसके बनने मिटने में बिना अपने को जाने भयसा दिखाता रहता है। इसी प्रकार यह झूठा मैं—जो जाग्रत स्वप्न में इस डेले के साथ रहता हुआ सुषुप्ति में नहीं सा हो जाता है—भी भय खाता रहता है। परन्तु मूल 'मय' (मैं) जो इस डेले की सभी अवस्थाओं में रहता हूँ सदैव 'है' रूप रहते हुये इस हैसा, हैसी, है से जगत में सदैव निर्लिप्त हूँ।

जैसे जगत के हर परिवर्तन में उसे (ईश्वर परमात्मा ब्रह्मको) अपरिवर्तनीय कहते हैं वैसा ही अब मैं भी अपने को समझ गया। अतः मैं ही वह ब्रह्म हूँ जो इस है-सा विश्व में एक रस अविनाशी अखण्ड चेतन एवं आनन्द रूप हूँ।

है और है-सा के इस रहस्य को जान कर हर व्यक्ति असंग रह सकता है।

है को समझिये है-सा को अनिर्वचनीय (न सत्य न असत्य) समझें और सदैव

मुझ तुझ अपने आपको 'है' रूप समझ कर निर्द्वन्द्व रहिये। यह सारा दृष्य मात्र है-सा ही है जो है रूप अपने आप को ढांके हुये-सा लगता है।

हैं को समझने पर यह 'है-सा' दीखता हुआ भी कहीं सा भी नहीं रह जाता।

नही है, है, था गुडुप

किसी भी पदार्थ या सृष्टि के अंश के कितने रूप हैं ? येही-'नहीं है, है, था गुडुप।"

जब तक वह पदार्थ सृष्टि में हमारे सामने व्यक्त नहीं होता तब तक हमारे लिये उसका क्या स्वरूप है ? कुछ नहीं। परन्तु जब भी नहीं होता तो हम क्या कहेंगे कि पास या हमारे सामने 'नहीं है। यह नहीं है उसका पहला रूप हुआ। और जब वह किसी बहाने से हमारे सामने आया तो हम कहते हैं कि वह है। अर्थात वह 'है' यह उसका दूसरा रूप हुआ।

परन्तु किसी कारण वश अथवा कार्य समाप्त होने पर जब वह भी मर कर अव्यक्त होता हैं तो हम कहते हैं था। कभी था वह कौन ? जो कभी नहीं है व है के रूप में था।

अर्थात यह गुडुप उसी प्रकार हुआ जैसा पहला रूप था। आदि अन्त एक।

और येही चार रूप होते हैं हर नाम रूप स्मृति आदि सब उत्पन्न होने वालों के।

अब इन स्वभावी किसी भी पदार्थ में आसक्त हो करके क्या करें जब कि विना किसी के पूछे ये सभी इन्हीं चारों रूपों में स्वाभाविक जाते रहते हैं। मानो पढ़ाते हैं कि हमको नहीं हम जिसके हैं—उन्हें पकड़ो। उन्हीं को समझो। हम हैं उसी एक के जहाँ से तुम्हारी इच्छानुसार रूप बदलते हुये तुम्हारे लिये आते हैं। परन्तु यह भी पढ़ाना चाहते हैं कि हम से नहीं उनसे प्रेम करो जिनके हम हैं। अपने हमें न मानो। हम वहाँ से तुम्हारे तक और तुमसे उनतक ही घूमा करते हैं।

जब से यह विचार हुआ तो यहीं ज्ञान हुआ कि ये पदार्थ उनके पास से मेरे व मेरे से उनके पास जाते रहते हुये कही नहीं रूकते। अर्थात् जैसा वह असंग रहता है मैं भी रहता हूं। देखता मैं भी हूं वह भी देखता ही होगा। तो अब 'अनासक्त होकर देखा ही करूं चाहे ये आवें या जायें। मेरा क्या बिगाड़ते हैं ? मैं केवल दृष्टा ही तो हूँ। ये मेरे नहीं हैं 'इतना समझना हो पर्याप्त है। चारों रूपों में बहुरूपियों को देखते हुये

किसी प्रकार भी ये नहीं है यही निश्चय हुआ। यदि होते तो एक न एक रूप तो स्थायी रहता ही है। सो अपनी कल्पना को जिससे ये आते व भेष बदलते थे लौटा लिया कि रह गया केवल मैं ही मैं।

ईश्वर सृष्टि-जीव सृष्टि-खिचड़ी सृष्टि।

सृष्टि तीन प्रकार की। एक ईश द्वारा निर्मित, दूसरी जीव द्वारा निर्मित तथा तीसरी दोनों के मिश्रण से निर्मित-खिचड़ी सृष्टि।

ईश्वर सृष्टि दुख का कारण नहीं होती जैसे यह पंचभूत पृथ्वीजल तेज वायू आकाश ब्रह्माण्ड पहाड़ नदी वृक्ष आदि। इन्हें न अपना कोई दुख न किसी को दुःख देने की ही भावना है।

दूसरी है जीव सृष्टि। जिससे भी मन का संग 'मै मेरे' के रूप में होगा वही दुःख सुख का कारण बन जाती है। पहाड़ ढह गया वृक्ष आप गिर गया तो कोई दुःख, नहीं। अपना माना हुआ भाई आदि गया तो दुःख हो गया। अपनत्व की भावना जहाँ जब भी आई वहीं उसकी रक्षा की चिन्ता व उसमें ही राग द्वेष ईर्ष्या आदि सबआ गये। भय चिन्ता राग द्वेष ये सब जीव सृष्टि में ही है। पहाड़ दिनरात अपनी जगह है उन्हें जंगलका कोई भय या दुःख नहीं परन्तु कोई व्यक्ति वहाँ जाता है तो भय या दुःख मानता है। वहाँ भय जीव सृष्टि है। जितने विकार गुण हैं वे सब जीव सृष्टि हैं।

परन्तु एक है खिचड़ी सृष्ठि। अर्थात् ईश्वर सृष्टि जीव सृष्टि। जैसे लोहा जो खनिज है उसी को हमने अपने लिये चाकू रूप दे दिया। फल काटना है तो लोहा नहीं, चाकू काटेगा यद्यपि चाकू भी लोहा ही है परन्तु लोहे में चाकू भाव केवल जीव सृष्टि है लोहे में कोई दुःख न होगा यदि फल की जगह हाथ कट जाये। चाकू गुम होने पर चाकू नहीं, हम दुखी होते हैं। न लोहा ही दुखी होगा। ईश्वर सृष्टि बिना काम नहीं चलता। ये पंच भूत, यह मन, बुद्धि ये सृष्टि जड़ चेतन, वृक्ष सरिता, पशुपक्षी देवता, असुरादि सब ईश्वर सृष्टि है। इस से ही काम चलेगा। चाकू में लोहा ही है परन्तु लोहे से बिना पूछे ही हमने चाकू भाव जो रखा है हमें ही उसे गवाने की चिन्ता लग न जाने का भय व गुम होने पर दुःख होता है। इसी प्रकार हमारे ऊपर जो शरीर आदि है वह तो ईश्वर कृत है, उससे हम अपना पन मान कर सुख दुख लेते हैं।

तो फिर करे क्या ? ईश्वर सृष्टि का ज्ञान करें, ईश्वर सृष्टि ईश्वर को सौंपदें उसकी ही समझें अपनी नहीं, अपने को भी ईश्वर में अर्पण करें-मिलादें और खिचड़ी सृष्ठि से व्यवहार कर अनासक्ति से काम चलायें। चाकू के विना काम न चलेगा चाकू को लोहे से अलग निकाल कर भी काम न चलेगा। अत: लोहे में चाकू भाव की खिचड़ी से ही काम चलेगा। परन्तु खिचड़ी में जो आपने अपनी दाल मूल चावल में मिलाई है उसे कल्पित झूठी और काम चलाऊ ही समझें—सत्य नहीं। सत्य तो ईश्वर है आपका स्वरूप है व व्यवहार काल में यह ईश्वर सृष्टि भी सत्य कहलाती है यद्यपि आप के भावानुसार बदलती होने के कारण यह भी अर्ध सत्य ही है। अत: इस झूठ सत्य की खिचड़ी का जीवन तो चलाइये। दाल रूप अपनी कल्पित सृष्टि को झूठ समझें एवं मस्त रहें।

ईश्वर को समझें, उसे मिलें, ईश्वर सृष्टि में अपना अभिमान करें, अपनी मानी हुई सृष्टि से राग हटावें, जीवन का स्वानन्द लें। मुक्त रहें।

टी० बी०

डॉक्टर लोग को किसी खास शारिरिक परिवर्तन को टी० बी० की संज्ञा देते हैं। यह और बात है कि आजकल टी० बी० यह डॉक्टरों को हर व्यक्ति की टिकाऊ रूप से पकड़ने के लिये रोग मिल गया है। परन्तु हमें तो जब से सन्त गुरूओं शास्त्रों के संग में गये तथा अनुभूति से देखा तो यही ज्ञान हुआ कि यह सारा संसार ही टी० बी० (क्षय रोग) से ग्रसित है। जिधर देखा जहाँ तक दृष्टि व बुद्धि पहुँची सभी को टी० बी० ने पछाड़ा है। और इसी कारण अपने को अमर करने, टिकाने स्वस्थ रखने की चेष्टा में हरकोई अपने अपने ढंग से परिश्रम व साधन करने में लगा हुआ है।

इन्द्रियों के देखा स्वाँस को टी० बी० लगा होने से इनमें और उसके कारण शरीर आदि सब में धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। मन हर समय व्यथित रहता ही है। बुद्धि भूल जाने की बीमारी में अपनी याद दाश्त को टी० बी० मानी है।

देवताओं को भी अपने पूर्व पुण्यादि को टी० बी० द्वारा क्षीण पाकर मन में फिकरी लगी रहती है और आगे बढ़ाने में वे असमर्थ हैं।

नारायण विचारे दौड़े-दौड़े अपनी खोई चेतना को इकट्टा करने में पस्त होते हैं। उन्हें याद है कि दिन बीत रहे हैं और एक दिन आयेगा जब मरना है।

कुछ तालाब नदी समुद्र सब सूखते जा रहे हैं। पहाड़ जहाँ तहाँ से गिर रहे हैं—बालू रेत हो रहे हैं।

योगी-भोगी तपस्वी जाने क्यों सूखे जा रहे हैं किस टी० बी० से ये आक्रान्त हैं? एक ही कि एक दिन मरना है टी० बी० पीछे पड़ा है। अमर कैसे हों?

और ये ब्रह्मा विष्णु महेश सभी बिचारे अपनों प्राप्त आयु के दिन गिनते-गिनते आज्ञानुसार गति कार्य में लगे रहते हुये अपनी उमर न बढ़ा सकने की चिन्ता में घुत्ते जा रहे हैं। टी० बी० ग्रस्त की टी० बी० ग्रस्तों पर सेवा दया कृपा ही क्या है?

और कभी उस ब्रह्म को भी अपनी इस टी० बी० ग्रस्त सृष्टि को देख कर झूठी ही टी० बी० खुद को न लग जाने की चिन्ता है। मुझे भी कभी यह लग जाता है कि मैं यह न हो जाऊँ"। परन्तु इतना सोचते हुये अनन्त समय हो जाने पर भी टी० बी० का फल मृत्यु मेरा अब तक न हुआ। इस टी० बी० के साथ खूबी से मैं ही रहना जानता हूँ शरीर मनादि की हिम्मत अधिक दिन नहीं रहती। परन्तु यह टी० बी० सबको क्षरण भाव को ले आने वाली होने पर भी अब तक खूद क्यों नहीं मरती? सायद मेरे साथ रह कर ही इसने कल्पित अविनाशित्व प्राप्त किया हो। खुबी रही है कि जिस मेरे स्पर्श से इसे भी अविनाशित्व प्राप्त होता हो उस मुझे तो टी० बी० का कदापि भय नही है। क्योंकि मैं नित्य सहज अविनाशी अखण्ड आनन्द रूप निरोग शुद्ध बुद्धि मुक्त ब्रह्म हूँ। और इसी कारण इस बाह्म टीं० बी० ने भी सदैव सबको मिटाते हुये भी मूल से नष्ट नहीं कर पाया है। क्योंकि सब के साथ भी मैं हो रहता आया हूँ।

मुझे मेरी निर्माण की हुई टी० बी० कभी लगती नहीं और इन सबको कभी भी उस से छुट कारा मिलता नहीं।

केवल 'हे' है

जगत दो प्रकार का एक स्थूल जो इन्द्रियाकार है व एक मानसिक यो अन्तर्भासी होता है।

चाहे बाहर हो चाहे अन्तर जहाँ भी होता है है तभी वह जहाँ तहाँ प्रतीत होता है। अतः उनकी हैं के सिवा और कोई सत्ता नहीं है। बाहर भी है और भीतर भी है। एक हैं इन्द्रियों द्वारा और एक है' जो मन द्वारा पकड़ में आता है। यह और बात है कि इन्द्रियों द्वारा पकड़ में आने पर उसी 'है' का नाम भिन्न-भिन्न पड़ता हो तथा मन

के द्वारा पकड़ने पर मन को वह और कुछ रूप दिखाई देता हो। परन्तु होता है वह 'है' ही। इन दोनों रूपों में इन्द्रियों द्वारा स्थूल 'है' प्रति क्षण बदलता एवं विलीन होता प्रतीत होता है और वही मानसिक रूप में रहता हुआ फिर २ स्थूलता को प्राप्त करता रहता है। यह तब तक होता रहेगा जब तक सृष्टि विधाता की वह संकल्प वृत्ति की "एक से अनेक हो जाऊँ और हो गया के साथ ही ऐसा ही होता रहे" लौट न जाय। इसी कारण यह स्थूल सृष्टि कितनी बार मिटती हुई प्रतीत होने पर भी आज तक मिटी नहीं फिर २ उत्पन्न होती रहती है। क्योंकि सूक्ष्म रूप में वह रहती है।

तीसरा जो उसका स्मृति रूप है वह उसी मूल सृष्टि संकल्प के आश्रित रहता है। इसी स्मृति को कारण कहते हैं। यह स्मृति भिन्न २ पदार्थ, वृत्तियाँ के रूप में अनन्त हैं। और ये भी सब उस महा कारण शुद्ध संकल्प के आश्रित हैं। इसी को 'प्रकृति' कहते हैं। पर इन सबको भी 'है' ही कहा जाता है। अर्थात् यह भी 'है' ही है।

अब इन्हीं ऊपरी स्थूल सूक्ष्म को एक सृष्टि व दूसरी इन समष्टि स्मृति रूप्य प्रकृति मिलाकर दोनों को प्रकृति (एक स्थूल व एक सूक्ष्म) कहते हैं। दोनों ही अपनी जगह है ही है। इन सबको धारण करने वाला ब्रह्म का शुद्ध संकल्प कि 'मैं एक हो जाऊँ' ऐसा एक जो अनेक होने लायक हो वही संकल्प ईश्वर है जो हर अपने अनेक रूप के साथ जगत सदा बना रहे इस वृत्ति के साथ शासन कर रहा है रहता है। इसी कारण सब दिखता है परन्तु यह ईश्वर जो निराकार रूप में सर्व रूप रूपान्तर व उनके प्रत्यावर्तन में रहता है अपनी सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति व विनाश की जोजनायें अपने अन्नर रखता हुआ सर्वना रहता है ईश्वर है। है परन्तु यह भी है ही। और जिसका यह शुद्ध संकल्प है वह है ब्रह्म जिसे सतचित्त आनन्द अद्वय निराकार निर्विकार अकर्त्ता सहज व सर्व रूप कहते हैं। और वह भी अज्ञान काल में है ही कहा जाता है। परन्तु अनुभूति काल में जो किसी से भिन्न नहीं वह स्वयम् ही है। स्वयम् से स्वयम् भिन्न नहीं होता। अतः वह मैं ही हूँ। यह मैं भी है ही और हूँ शब्द उसका भाव भी है ही। अतः सर्वत्र है ही है। और उसी को चाहे मैं तू वह, यह वह, है, नहीं, या हूँ कुछ भी कह दें परन्तु सर्वत्र 'अस्ति' माग है। सोऽहम्।

गल्ती

इसने गल्ती की है उसने गल्ती की है। यह न होना चाहिये यह न होना चाहिये इस तरह शिव रामकृष्ण, देवी देवता ऋषी, महर्षि, मानव, पशु, पक्षी, यक्ष, किन्नर, असुर, भूत प्रेत, पिशाच, सभी को सब की शिकायत रही कि हर कोई न कोई

गल्ती करता रहा है। और सब अपने से भिन्न गल्ती की सजा मान कर उसे मिटाने की धुन में अपनी शक्ति बुद्धि व समय खर्च करते रहे हैं।

माना कि गल्ती बहुत ही खराब है, और गल्ती किसी को नहीं करना चाहिये परन्तु फिर भी वह होती रही है होती रहती भी है और होती भी रहेगी. ऐसा ही लगता है। गल्ती को गल्ती देखना ही गल्ती है या कि गल्ती करना गल्ती है या सर्वत्र गल्ती ही गल्ती है या कि यह सब लिखना पढ़ना सुनना गल्ती ही है? किसने यह गल्ती की है, प्रथम? कहाँ से यह गल्ती का बीज बोया गया? कौन था प्रथम जिसने यह गल्ती उत्पन्न करने की गल्ति की है जिसके बाद उस गल्ती का सुधार विवश तो हुआ नहीं—वृक्ष बनकर मानों गल्तियाँ ही गल्तियाँ सर्वत्र बिखर गई हैं।

अब यदि वह जिसने प्रथम गल्ती की है उसमें गल्ती न थी या वह स्वयं गलत न था तो वह गल्ती भरा कि रुप बना ही क्यों या यह गलत ही क्यों कहा जाता? यदि वही गलत था तो इस गल्ती का गलती से उत्पन्न जगत गलत साधनों से क्या सही कर पायेंगे? और यदि यह कुछ भी गलत नहीं है तो फिर सही क्या करना? या फिर इसे गलत ही क्यों कहना?

अपने अविनाशी एक रस स्वरूप से बिल्कुल भिन्न इस जगत को उत्पन्न करन ही बड़ी भारी गलती है जिसकी गल्ती हम सब भोग रहे हैं। सब के भोगने पर भी वह चुकती नहीं है। और गल्ति पर गल्ति किये जा रहे हैं। अब और क्या जानें कि उसके सिवा यह सब विपरीत स्वभाव का होने से गल्ती ही है। क्यों—वह तो सत एक रस है और यह सब गलत है। यह सब गलत संसरण करता है अत: गलता गलती गलत क्रिया में आने वाला यह जगत सब गल्ती है।

परन्तु उसको जिसने यह बनाया है गलत कहने की किसे हिम्मत है अत: फिर उसका यह सब उत्पन्न किया हुआ गलत भी कहना गलत है। इसलिये सभी अपनी अपनी जगह गलत और सही दोनों दिखाई देता हुआ चल रहा है और यह भी तो गलत है कि यह दो रूपों में दीखता है जब कि है यह एक का, एक जैसा व एक ही। अपने समान जब नहीं दीखता तो सब गलत दिखाई देता है। और अपने समान देखते ही गल्ती पना गलत हो जाता है। अपने समान न देखने को पहली गल्ति का इसी गल्ति को साथ लिये हुये उसने यह जो कुछ बाद में बनाया सब गलत हो गया है। और जब भी वह अपनी उस पहली गल्ती को याद करेगा यह सब गलत जगत न रहेगा: एक दम गलत हो जायेगा अर्थात सत स्वरूप में विलीन हो जायेगा। अपने को न देखना ही जगत है और अपने को देखना ही जगत का अत्यन्त विनाश है। परन्तु जब तक क्रीड़ा के लिये धारण की हुई यह सहज गल्ति भुलाई न जायेगी—स्थिर होते हुये भी स्थिर आत्मा को स्थिरत्व का भान न होने देगी।

गल्ती को सामने रख कर विछाया हुआ ब्रह्मा से स्तंब (चिंटी) तक यावत जगत गलत हो हो जाता है एक गल्ति का चश्मा उतार कर फिर देखने पर यह सब निजके सिवा अन्य नहीं रह जाता। अपनी एवं अपनी गल्ती की इस महिमा को याद करके अब गुदगुदी आ रही है।

डबल-रोल

किसी फिल्म में किसी अभिनेता का उभरे रूपों में कलात्मक खेल देखना बहुत आकर्षक होता है। यद्यपि होता है दोनों में कलाकार एक ही और यह समझते हुये भी दर्शक उसी एक के वे दोनों अलग अलग या परस्पर भिन्न प्रदर्शन देखकर प्रसन्न होते हैं। दूसरे का (अपने से भिन्न) दृश्य में किसी का यह खेल इतना अच्छा लगता है तो यदि अपना २ प्रत्येक व्यक्ति देख ले या अपने से ही किसी एक का होने वाला उभयात्मक रोल देख ले तो ? सब कुछ देखने का आनन्द आयेगा तथा मुक्त भी हो जायेगा, सदा के लिये। तो देखिये अपना अपना या अपने सामने किसी एक का ही उभयात्मक रोल।

इस अखिल ब्रह्माण्ड में अनेक द्वन्द्वात्मक दीखने वाला जो जगत है वह भी किसी एक ही का है। वही एक इन दो रूपों में एकेक का पूरक बन २ कर क्रीडा कर रहा है। लो यही आपका देह—जाग्रत में हर प्रकार की क्रियायें अवस्थायें लिंग व आकार बदलता हुआ दिखाता हुआ भी नींद में कुछ न करता हुआ रहता है। यही आप का मन जाग्रत में सुखी दुखी पापी पुण्यवान बन्धन में मुक्त विकारी गुणी मूर्च्छित जाग्रत स्वप्नमय, समाधिस्थ अज्ञानी ज्ञानी लगता हुआ भी नींद में सर्व भावातीत हो रहा है। और ये ही इन्द्रियाँ जड़ चेतन दो रूपों में दीखती हुई निद्रा में अकर्ता बनी हुई हैं। एक ही आपका चित्र इन बाह्य समस्त लीलाओं को करता हुआ भी समाधि विवेक एवं नींद में अक्रिय अभोक्ता व मुक्त का रोल खेल रहा है। तथा आप भी इन सबके साथ मिलकर कभी कर्ता भोक्ता जीव भाव में अथवा दृष्टा भाव में बध्य से तो आप ही अपने आप के विशुद्ध निरपेक्ष दृष्टा स्वरूप की स्मृति में सर्व विमुक्त से रहा करते हैं। हैं न आपके ही ये सब उभय रोली। अनेकों स्वभावों में रहनेवाले का एक मूल स्वभाव पहचानना जैसे कठिन है तद्वत् आपके असली स्वरुप का भान होना कठिन हो गया है। यद्यपि आपका स्वभाव यही है कि सब स्वभावों में सबको धारण करते हुये भी असंग अकेले रहना। आपके इन उभय रूपों में रहते हुये भी आप दो नहीं बनते, न मिटते हैं।

चित्रादिको के उभय रूपों के दृष्टा निज रूप के अनुभव के बाद किसी भी प्रकार की लीलाओं का भार आप पर कभी नहीं पड़ता। नहीं तो आज तक की इन लीलाओं

को आप कभी भी मिटा देते छोड़ देते तथा इन्हें डाँट देते । परन्तु सब में सब रूप को क्या किसी का विक्षेप ?

अनन्त की नाप-ये चट्टियाँ

अनन्त तो अनन्त ही है। वह न कभी नपा है न तुला और नपतुल जाय तो वह अनन्त कैसा ? और कोई नापे तो कभी थक कर बैठ जाये; परन्तु अनन्त अपने को खुद नापने चले तो ! खुद तो थकेगा नहीं परन्तु स्केलें पैमाने सारा जोड़ता, थकाता ही रहेगा, उसका तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। हर प्रकार की नाप करने चले। और जो भी नाप साथ लिये वै छोटे पड़े। अपनी आयु को मापने को शरीर की स्केलें साथ ली लेताही चलां गया, कोई बाकी न छोड़ा परन्तु नापने वाला न थका-ये सब हार कर मिट गये। चट्टियाँ बनाई थीं। इन्हीं पर पैर रखकर चलने तो लगा परन्तु चलनेवाला न थका-चट्टियाँ टूट गईं। सारी देह की चट्टियाँ (विश्राम-स्थल) वहीं की वहीं रह गईं। यह आगे बढ़ गया नापने वाला तो रहा ये (स्थल) कोई न बचे। जड़ चेतन व्यक्त अव्यक्त सभी पांच भौतिक न त्रिगुणात्मक अधउर्ध्व दसों दिशाओं में गया परन्तु सब छोटे पड़े। इन्द्रियों के ठहरने के ये थोडे २ विश्राम इसका अन्त न पा सके। अपनी ज्ञान की अनन्तता को नापने के लिये बुद्धि का स्केल बनाया। हजारों हजारों ग्रन्थों को निर्माण करते २ लाखों पुस्तकालय, विश्वविद्यालय भर दिये परन्तु हरजर्रे २ में भरे ज्ञान का अन्त न मिला। मिला तो बुद्धि ही भूलती चली गई। ग्रन्थ सड़ गये भार से दब गये, मौन हो गये, कीड़ों के द्वारा खाये गये। देव असुर, मानव ऋषि महर्षि विद्वानों के जमघट अनन्त के लेश मात्र ज्ञान में हिलोरे खाते २ चक्कर खाकर गिर पड़े सो न उठ पाये। ध्यानादि द्वारा तथा तप द्वारा थोड़ा बहुत पाया भी जिसे अनन्त कहने की हिम्मत किसी को न पड़ी, बुद्धि थक कर बैठ गई। जब उसने देखा कि एकके बीज में अनन्त वृक्षों का हिसाब रखा है, तो बड़े २ पहलवानों (बुद्धिवादी) का और उस अनन्त का पता पाने के लिये अपना मुँह छुपा कर ही रहना पसन्द किया उसने।

और अनन्त की शक्ति ! उसके लिये चित्त प्राण को साथ लिया परन्तु ये खुद दौड़े २ सब को ढ़ोते २ यह न जान पाये कि हम इन्हें ढो रहे हैं या कि हम ही ढोये जा रहे हैं थे अब तक। कितने चक्कर काटे हैं इन्होंने यही इन्हें ज्ञात नहीं, याद नहीं फिर अनन्त की तो बात ही क्या ? शब्द की उत्पत्ति जिस तरंग में होती है उसमें जो चित्त की सूक्ष्म तरंग चित्त से उत्पन्न होती है उस चित्त को किसने हल्के से स्पन्दित किया जिसके इस एक हल्के धक्के से शब्द में बड़े २ पहाड़ों को कंपित करने का बल प्राप्त हुआ ?

चित्त इसका उत्तर देने में मौन है। एक कंठ (वैखरी) में किनकी भाषायें हैं इनका पता नहीं हो सकता। अब तक विश्व में मानव की हीं किननी बोलियाँ हुई हैं कितने आकार नाम व रूप हुये कितनो वार जन्म मृत्यु एकेक जीव का हुआ यह सब गौड़ व गाल है जिसका पता पाना असंभव है।

और अपना ही सौंदर्य जानने देखने की इच्छामें कुछ जहाँ नहीं था उस अपनी संकल्प शक्ति माया-दर्पण में जहाँ २ झाँकता चला नवीन नवीन झाँकियों का सृजन करता हुआ आजतक नवीन २ ही देखता हुआ वही अनन्त यह पूछता फिरता है कि किसका है यह सौंदर्य ? कहाँ है वह ? कौन है वह ?

और इस प्रकार सबको थकाता इसीलिये (हर जगह से) हर देह में पूर्णता का अहम् प्रदर्शित करता हुआ अब तक इस प्रश्न को थामें नवीन सृष्टि के निर्माण का साहस बल बुद्धि व सौंदर्य लिये हुये उत्सुक है (पूछने के लिये कि) वह अनन्त कौन है! और हम यही कहेंगे कि हे नाथ अब और किसे हम अनन्त कहेंगे जब कि सबका अन्त देखते हुये शेष आप अब तक मौजूद हैं? आप इस देह या उस देह में रहें सीधे भले आपको न देख सकें परन्तु भान तो हो गया कि अपनी लीला के अव गुंठन में आपही अपने को जनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बस करो अब पहचान लिया। सारी डायरियाँ (देह बुद्धियाँ) आप ने भर दीं आप पूर्णत: किसी में नहीं हैं न आही सकते हैं। जितनो से इनका गुजारा हो सकता है उतना इन सब में आपने दे दिया है। अब आप और न नापे, आप का ही सब नपा है पैदा किया है—और सबका अन्त भी आपने ही देखा है। हे अनन्त ! आप ही अनन्त है। अनन्त यह बात सुनकर मानो शरमा गये, छुप गये केवल देह ही दीखने लगी। बोले मुझ अनन्त को पहचानने वाले अनन्त के सिवा और कोई नहीं हो सकता। तुम भी अनन्त हो। "मैंने कहा", प्रभो अनन्त कहीं दो हो सकते हैं? तो मौन हो गये। और मैं भी यह रहस्य जान कर मौन हो चुका हूँ।

लीचड़, कीचड़, चीचड़

लीचड़ कितना ही उसे आप न चाहें परन्तु वह आप को नहीं छोड़ता। पदार्थों की ओर लपका व्यक्ति इनके पीछे चाहे जितने कष्ट उठाता आ रहा है परन्तु पदार्थ चाहे हाथ से निकल जायें उसका दास उन्हें नहीं छोड़ेगा। चाहे उसके पीछे धनाशक्ति से सांप बनना पड़े मकानासक्ति से मकड़ी धुपकली व तनासक्ति के पीछे बिल्ली, गौ आदि कोई भी फजहित हो परन्तु वह इसे मानता ही नहीं। एक बार किसी दूकान पर एक

बकरा बार २ आटा खाने को मुँह मारता और दूकानदार उसे मारता। कई बार यह हालत होने पर एक सन्त उधर से सामने आये और यह हाल देखकर हँस दिये। दूकानदार ने पूछा—क्यों हँसे ? तो सन्त बोले, 'क्या बताऊँ, तू अपने पूर्व पिता को ही मार रहा है। तेरा पिता ही अपने सामान पर अपता अधिकार जमाने आया है और दुखी इस बात पर कि मेरा बेटा ही मुझे क्यों मार रहा है ? जब कि उसे यही पता नहीं कि अभी वह एक बकरा है।'' आसक्ति में उसे बकरा बनना पड़ा परन्तु आसक्ति को नहीं छोड़ा।

पदार्थों ने कभी हम से मोह नहीं किया। वे किसी के भी लीचड़ नहीं बनते। उनकी कितनी ही दुर्दशा आप कर लें परन्तु वे तुमसे कदापि मोहित न होंगे। जीवन भर अच्छी २ पेटियों में, तिजोरियों में, मकानों में, तुम उन्हें रखो परन्तु इतने मोह के होते हुये भी वे तुमसे मोह नहीं करेंगे। जब आप बाहर रखें और किसी ने भी उन्हें उठाया तो वे उन्हीं के हो जायेंगे। परन्तु मनुष्य कितना मूर्ख कि इन्हीं के पीछे जीवन के समान बहु मूल्य धन बरबाद किये जाता है।

इन लोगों को कभी उपदेश सतसंग राग दुख चोट चपेट आपत्तियाँ थोड़ी देर झकझोर दे परन्तु फिर वहीं के वहीं। ये यही कहेंगे कि महाराज क्या कहें, 'ये बाकी है वो बाकी है' यह करना है वह करना है। बच्चे ठुकरायें, पत्नी डाटे फटकारे बहुवें बेइ-ज्जति करें परन्तु ये भी हैं कि जिन्होंने (इन सब के लिये सब कुछ किया, जीवन खोया है फिर भी) बुढ़ापे तक भी उबरने की नहीं सोचते। बचपन में कहते रहे—अभी क्या है ? जवानी में कहते रहे—क्या है सतसंग ? तो बुढ़ापे मे अब कहते हैं अब क्या करेंगे महाराज ? यों कहते २ जीवन व्यर्थ खोते हैं। जिस तरह पुल के ऊपर बैठे २ दिन भर भीख माँगते रुपया आठ आने के पीछे हट्टा कट्टा कोई शरीर कहीं नौकरी या सेवा करके इज्जत से कमा सकता है परन्तु नहीं, दीनता ही उसकी खुराक है। गाढ़ी पर काले फटे, मैले कपड़ों में लिपटे बच्चे जूठे पत्र के रोटी के टुकड़े जूटी सबजी, गालियाँ खाते हुये दिन भर बिता देंगे परन्तु काम करके स्वाभिमान की रोटी खाना पसन्द नहीं करते। ये हैं लीचड़ जो अपने कर्तव्य से रहित होकर पदार्थों के पीछे मानवता को भी कुर्बान किये हैं। परमात्मा रूप यह मानव ! पदार्थों ने मोल ले लिया है इसे। और कोई हैं ऐसे जो विषयों में इतने धँसे हैं जैसे कीचड़। जल मिट्टी का अभिन्न होकर किसी लायक न रह जाना ही कीचड़ कहलाता है। उनमें यदि हाथी भी पहुँच जाय तो उबर नहीं सकता। ये दो प्राणी हैं जो स्वयम् तो उबरते ही नहीं और भी इनके घाट कोई चला जाये तो वहीं रखलें और कहीं का न रखें उसे।

जो साधन न तो करें न करने दें। गिरतों की लिस्ट लिये हुये जो बैठे हों और चढ़ने वाले को उस लिस्ट की याद कराकर रहा सहा उसका होश व जोश भी जो खोने से नहीं चूकते। इनके यहाँ कभी कोई उठा नहीं, न उठ ही सकता है। भगवान भी इन्हें आकर कहें कि चलो, मुफ्त में तुम्हें स्वर्ग ले चलें, तो उसे भी कहने से न चुकेंगे कि

यहाँ से अधिक कोई स्वर्ग कहीं नहीं है। तू भी यहीं आ जा।" पानी जिस कीचड़ में ऊपर २ अधिक हो उसकी बात नहीं परन्तु उस कीचड़ की जो गड्डमगड्ड हो गया है उसमें तो कोई घास तक नहीं उग सकती। पैर पर पैर पड़े, जाने कितने के पैर घसीटें हैं उसने, परन्तु परिश्रमी भले निकलने की चाह करें या निकले जायें कीचड़ वहीं से हटना न चाहेगा।

और ये हैं चीचड़ महोदय। लीचड़ किलनी को कहते हैं जो लाल लाल होता है। गौ आदि के थनों के किनारे चिपटा हुआ दूध नहीं खून चूसता रहता है। हर दूध का प्राणी इनसे परेशान रहता है। दूध पीने के लिए पास रखा है परन्तु ये खून ही पीकर परेशान करने में उत्साही रहते हैं। चाहे खींचकर कोई इन्हें निकाले निकलेंगे नहीं चाहे मरना पड़े। अमृत रूप सतशास्त्र सज्जन देवता, धर्म, सन्त और परमात्मा सब जगह हो परन्तु इन्हें गन्दा साहित्य, गन्दे व्यक्ति, गन्दे ध्यान, गन्दे धर्म, कर्म गन्दे ही गुण पसन्द हैं चाहे हर ओर निन्दा, अपमान, डाट, मार सजा मिले—मौत भले आ जाय परन्तु ये उन्हीं में मस्त हैं। लीचड़ तो कहे सुने अच्छे भोजन में अटकाये जा सकते हैं अच्छे की उन्हें चाह होती है। कीचड़ को भी फिर किसी काम में लगाया भी जा सकता है परन्तु ये लीचड़ महोदय तो कहीं भी किसी के अच्छे कार्य को भी बिगाड़ने में चुकेंगे नहीं। क्योंकि इन्हें तो कोई भी जगह दूध रूपी 'सत' अच्छा लगता ही नहीं—चाहे यह 'सत' कहीं लगा हो व्यक्ति, कर्म, ग्रन्थ। इन्हें लीचड़ के समान कोई खींचकर भी निकालना चाहेंगे तो भी अपने साथ वे उसे ही ले जाने में चुकेंगे नहीं, जो इनका इष्ट है। चाहे कोई दु ख, अपमान व्याधि या कभी-कमी मृत्यु से ही सामना करना पड़े अपने आप उनसे वहाँ से हटना आता नहीं।

अब देखिये कि मूर्ख से भी बुद्धिमान कोई गुण सीख लेता है परन्तु बुद्धिमान से मूर्ख कुछ नहीं ले पाता।

लीचड़ बने तो सन्त सद्गुरु, धर्म, सत कर्म, परमात्मा के बनिये। अपने सत मर्यादाओं के लिए बने। इसके लीचड़ तो श्रेष्ठ व्यक्ति कहे जाते हैं। रस दोनों में है जब जिसका चसका पा जाय। पहले लीचड़ में मृत्यु तक व बाद वाले मृत्यु के बाद में भी रस है। वे मृत्यु पश्चात् भी पूजे जाते हैं। वे जो जीते भी ठुकराये जाते हैं, समाज में हर कहीं दुःख के बीज बोते रहते हैं। कीचड़ बने तो ऐसे जिसमें कमल पैदा हो जो भगवान को भी पसन्द आये। अपने ऊपर जल का बोझा लिए हुए कीचड़ भी रत्न उगलता है। उसके पास तो अनेक भजन, पूजन आदि सत कर्म होते हैं। वह तीर्थ के रूप में भी हो जाता है। परन्तु लीचड़ भी बने तो एक अपने विश्व कल्याण वृत्ति के बने चाहे इसमें तन जाय, धन जाये, प्राण जाये और मान जाये। तीनों में गुण है परन्तु जो अच्छों के साथ लग जाय वही अच्छा है नहीं तो वह आप भी गिरा है औरों को भी गिराता दुःख में डालता है।

अब आप जिसे पसन्द करें वैसा ही बनें । यदि असत से छके हो तो अब सत के ही लीचड़ कीचड़ व चीचड़ बनें तो कोई हर्ज नहीं । ये लीचड़ हैं जिन्हें पदार्थों ने सभी शरीरों में खूब भ्रमा-भ्रमाकर कूटा है । ये कीचड़ ही है जो इससे भी अधिक जड़ होकर पाषाण पहाड़ के रूप में हैं तथा ये वही चीचड़ हैं जिन्होंने समस्त यातनागार भर रखे हैं । लीचड़ को उबरने का अवसर हैं चीचड़ को यातना का व कीचड़ को तो अब कोई अवसर नहीं है । वह तो करोड़ों वर्ष तक जड़ बन्धन में पड़ने के ही अवसर में हैं । परमात्मा लीचड़ है परन्तु अपने स्वरूप का है, वह भी कीचड़ है परन्तु उसी में से समस्त संसार की उत्पत्ति होती है व वही चीचड़ है परन्तु तुम्हारे राग को चूसता है सजा नहीं पाता ।

मान्यताओं से ऊपर उठो

अभी यदि आपको अपनी मान्यताओं में सन्तोष न हो, प्रसन्नता न हो, तो अपनी इन मान्यताओं से ऊपर उठो । मान्यतायें क्या हैं ? जो भी बचपन से आपको संस्कारों के द्वारा मनाया गया है । आप से पूछे आपकी बिना स्वीकृति के शिक्षा दीक्षा में जो आपको व्यावहारिक (केवल जागतिक व्यवहार के लायक) बनाया गया है वह सब मान्यतायें ही हैं । जो भी अपनी शक्ति बुद्धि कर्म के द्वारा माना गया है वही मान्यता है ।

बचपन में आपको सुना-सुनाकर नाम, रूप, जाति, कुल, ग्राम, गली का भान कराकर इन्हीं में बाँध लिया । जबकि आप अब तक जाने कितने शरीर देश काल स्वभाओं व परिवारों को छोड़कर आये होते हो । बाद में आपको पिता, माता, बन्धु, सखा, अध्यापक, शिष्य, स्त्री-पुरुष नाते गोते का पाठ पढ़ाया बन्धन में बाँधा आप तदनुसार ही अपने को मानने लगे । इसके साथ ही रम रमकर इनके लिये ही आप रागी, दोषी, मानी धनी गरीब, दु:खी सुखी बुद्धु बुद्धिमान, पापी, पुण्यी रोगी स्वस्थ मानने लगे ।

इसके बाद इन्हीं में परेशान हो होकर इनसे बचने के लिये विद्वान् बनकर या साधना कर करके आप योगी, भोगी, ध्यानी, ज्ञानी, तपस्वी, भक्त आदि उपाधियों के मानने वाले और इनकी आसक्ति में दुखी सुखी होकर जब भी कोई यह न कहे तो अपमान की आग में व्यर्थ ही जलने लगे ।

और इसी दु:ख से निकलने के लिये संस्कारवशात् भाग्य से योग्य सद्गुरु की शरण जाकर ज्ञान प्राप्त करके मान्यताओं से पूर्व के नित्य शुद्ध असंग निज रूप को जान कर मुक्ति के अभिमानी बन गये । तथा औरों को बद्ध देखने लगे ।

और फिर भी सन्तुष्ट न हुये। तभी तो हम कहते हैं कि आप अपनी मिथ्या मान्यताओं से ऊपर उठें या पीछे लौट कर देखें कि सभी जन्मों के पीछे भी आप अजन्मा थे व हर मृत्यु के बाद भी अमर रहे। अत: जन्म मृत्यु के बीच का यह सब माना हुआ बेकार व मिथ्या है। आप पर यथार्थ में कोई भी संस्कार चिपकता ही नहीं। आपका अपना असंग स्वरूप, हर संस्कार व उसकी मान्यताओं में असन्तुष्ट रहने का कारण आप पर यह व्यर्थ का ही बोझा आ गया है जो आप में नहीं था, न आवश्यक था। इनके बिना भी आप रहते आये हैं। परन्तु यह भले ही आप बिना न रह सके। नरहे। इसका यह अर्थ तो नहीं कि आप जबरन इन्हें मान मानकर अपने को दु:खी करें? मान्यताओं से असंग अपने स्वरूप को देखकर ऊपर ऊपर बिना प्रभाव के बेपर्दा रहें तो कोई हर्ज नहीं। परन्तु यही मैं हूँ यह मानकर इन्हें टिकाने के असफल प्रयत्न में व्यर्थ समय खोना बेकार है। अविनाशी तुम हो, यह नहीं। अविनाशी के सम्पर्क से सत्यता चेतना आनन्द इनमें प्रतीत होता है, है नहीं। अविनाशी के साथ रहते हुए भी यह कभी भी अविनाशी हो नहीं सकता।

अत: यदि छके हों तो इन सभी मान्यताओं से अलग अपने विशुद्ध स्वरूप के निश्चय से ही बनने बिगड़ने वाले झूठे अहंकारों से व इनको बनाये रखने के कष्टों व इनके न बने रहने के दु:ख से बचे।

या यदि कभी भी आपको किसी प्रकार का दु:ख हो तो झट पहचानिये कि कोई न कोई मान्यता का सम्बन्ध हो गया है।

जो आप नहीं उससे जब भी सम्बन्ध होगा आपका असंग स्वरूप अलग होना चाहेगा। मिथ्या आसक्ति उधर से निकलने देना नहीं चाहेगी और आपका सहज रूप निकलना पसन्द करेगा। नींद क्या है? केवल इनसे अतीत होने की एवं सुख प्राप्ति की सहज प्राकृतिक युक्ति। परन्तु हर समय नींद आ नहीं सकती। हरेक समाधि ले नहीं सकता। परन्तु हर समय अपने को इनसे अलग हम सोच ही सकते हैं।

यही समस्त दु:खों बोझों से हटने का एवं सब में समता से निर्मान सम रस होने का अचूक एवं सहज उपाय है।

तो फिर एक बार यही कहना है कि यदि आप वर्तमान मान्यताओं में असन्तुष्ट हैं तो पीछे हटे या ऊपर उठे। ध्यान, भक्ति ज्ञान, समाधि ये सब क्या हैं? केवल इन्हीं मान्यताओं से पीछे हटने के साधन। ध्यान में विराग के द्वारा, भक्ति में समर्पण के द्वारा, ज्ञान में सदसत के विवेक से एवं समाधि में चित्त वृत्ति के निरोध से करना पड़ेगा यही कि पीछे हटे, छोड़ें इन सबको छोड़ने में ही शान्ति आनन्द व समता है। रूप क्रिया भाव व विचार रूप जगत से पीछे हटते ही केवल आप का साक्षी स्वरूप ब्रह्म वैसा ही दिखाई देगा जिस पर कभी कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं, न पड़ता है और यही फिर सभी प्राणिमात्रों

का स्वरूप प्रतीत होगा। और तभी आप में समता अपने आप आयेगी इसके बिना शान्ति कदापि सम्भव नहीं।

मान्यताओं का महत्व नहीं मानने वाले का है। आप न माने तो किसी को जबरन चिपट जाने की हिम्मत नहीं। आप जिसे मान बैठते हैं उसी में वैसी ही समा हो जाता है। न मानने पर आपके सिवा और कुछ भी न मिलेगा, जहाँ मानने न मानने की आवश्यकता ही न रहेगी। मान्यताओं को छोड़ना माने अपने में स्थिर रहना।

●

अत्यावश्यक की खोज नहीं होती

●

सर्वत्र ऐसा ही देखा गया है कि अति आवश्यक की कभी भी कोई खोज नहीं करता। उसके लिये लापरवाह-सा रहता है। अत्यावश्यक वह होता है जो पास ही हो, सूक्ष्म हो, सरल हो, एवं कीमती हो। एवं परमावश्यक वह है जो कदापि भिन्न न हो सूक्ष्मतम हो, सरल स्वरूप हो एवं सर्वाधार हो।

आइये देखें। व्यवहार में इन समस्त कार्यों मकान-दुकान पदार्थों, सम्बन्धियों में हम उसे भूल जाते हैं जो अत्यावश्यक होता है वह है यह हमारा ही शरीर। इसके लिये ये पदार्थादि हैं। परन्तु उनका महत्व इतना बना दिया जाता है कि उनके लिये इसे खोया जाता है। चाहिये यह कि इसके लिये वे खोये भी जायँ तो कुछ घटी नहीं। (ये सभी के लिये हैं किसी एक के लिये चिन्तन नहीं) मकान में मकान के लिये हमारा शरीर नहीं, शरीर के लिये मकान है। इसी प्रकार धन मान आदि को समझें। अब शरीर देखिये कि पास है, इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म है एवं कीमती हैं।

परन्तु शरीर से हम अन्य कार्यों को तभी कर पायेंगे जब उसमें प्राण हो। प्राण न हो तो शरीर की कोई कीमत नहीं। परन्तु शरीर के पीछे हम प्राण की कीमत नहीं समझते। वह पास है, सूक्ष्म है एवं कीमती है। प्राणोपासक अन्य सबको तो छोड़ देते हैं अपने शरीर को भी कृष करते हैं परन्तु प्राण से भी अत्यावश्यक है जो उसकी परवाह नहीं करते। वह है मन। यदि मन न हो तो न प्राणोपासना, न शरीरोपासना, न वाह्य पदार्थों की रक्षा चिन्ता व व्यवस्था। मन सूक्ष्म है, पास है, अत्यावश्यक है, कीमती है। अपने मन को निर्विकार बनाने की कोशिश न कर दूसरों के मन के बारे में एवं अन्य को सम्हालने छोड़ने के प्रयत्न में अपने मन से हम कितने लगे हैं यह नहीं देखते। मन पर पड़ने वाले छापों के प्रभाव में न आयें या मन पर प्रभाव न पड़े इसकी आवश्यकता जितनी है उतनी ब्रह्माण्डबरों की नहीं।

इससे भी ज्यादा अत्यावश्यक है विवेकिनी सद्‌बुद्धि जो मन के पास ही रहती है, सूक्ष्म है एवं अति कीमती है। बुद्धि में विवेक लाकर–विवेक को धारण करते हुये जीवन में असत्य से असंग रहकर समत्त्व में निर्मान रहा जा सकता है। दुर्बुद्धि एवं संगी बुद्धि हो तो बाह्य जो कुछ है वह भी जायेगा व दुःख व अभिमान में फँसा देगा। अत: अत्यावश्यक सद्‌बुद्धि है जिसकी कोई परवाह नहीं करता।

उससे भी पास है हमारा यह चित्त। चित्त में ही प्रारब्ध की स्फुरणायें समय-समय पर उदित होती हैं वेही बुद्धि द्वारा उचित अनुचित देखी जाती है तदनुसार मन को देकर मन प्राण के सहयोग से इन्द्रियों द्वारा उन्हें कार्यान्वित करती हैं। तो यही चित्त यदि स्थिर न हो एवं हर स्फुरना में आसक्त होकर वहीं रुका रहा करे और यह बाह्य जो भी इन्द्रियाँ मन बुद्धि के संस्कार आयें उन्हें ही अपने में चिपकाता रहे तो? तभी अशान्ति होगी। एवं भविष्य की जन्म मृत्यु परम्परा का प्रवाह चलता रहेगा। फुरनाओं को क्योंकि इन्हीं का विश्व बाह्य इन्द्रियों के सामने बिछता रहता है, यदि रोकने के विश्वासी साधन हों और संकल्प सिद्धि एवं फुरनाओं से अतीत स्थिर चित्त को बना जाय तो यथार्थ ध्यान व शान्ति होगी। परन्तु चित्त पर जो जगत का आधार है ध्यान किसी का नहीं होता। होता है पदार्थ, शरीर भोग पर। चित्त का वास्तविक स्वभाव चंचल नहीं। उस पर तो पूर्व प्रारब्ध की लहरें प्रतिबिम्बित होती हैं। परन्तु लहरों को देखकर चित्त को अशान्त मानकर ही उसे टिकाने की असफल चेष्टा की जाती है। चित्त का स्वरूप समझ में आने पर तो हरदम शान्ति से सभी व्यवहार हो सकता है क्योंकि बाकी अन्य बुद्धि मन प्राण इन्द्रियाँ शरीर व पदार्थों में तो चित्त की इन्हीं फुरणाओं का अधिकार होने से चेतन से लगते हैं? चित्त शान्त देखा कि जगत शान्त। परन्तु इतना कीमती इतना पास, इतना आवश्यक व इतनी सरलता से प्राप्त चित्त से सब लापरवाह हैं।

इसके आगे 'अहं' जो सबको बिना लगे किसी का भी भान न हो। परन्तु इसके जो सबसे पास, सबके पास सबसे कीमती व सरल है उसे भी कोई नहीं समझना चाहते कि आखिर है यह क्या? इसे मिटाने की कोशिश तो करते हैं और मदद इसीसे लेते हैं किसी को मिटाने की। यदि यह मिटता तो मिटाने का अहंकार होता? यदि यही नहीं तो बाकी बाह्य क्या है? क्या मानेंगे आप अपने को व्यवहार में यदि यही नहीं? तो जो सबको धारण करे वह यह क्या है? योग भोग, विद्या, भक्ति कर्म सेवा मजदूरी, धन पदार्थ सबके साथ यह रहता है। इसी भरोसे सब किया जाता है और यही पनपता भी है इन सबसे। नहीं है यह कहते हुए भी यह बखूबी बना रहता है। क्यों? क्यों कि इसका स्वरूप वास्तव में जैसा देखा जाता है वैसा नहीं है। यह तो प्रतिबिम्ब है, आत्म बिम्ब का। जाग्रत स्वप्न तक हीं यह रहता है। फिर अहं व अहंकार ही नहीं रहता न कोई मान्यतायें न उनका सुख दुःख, न मान अपमान, न भय चिन्ता। अनुभव करें—यह वास्तव

में अपने आत्म रूप का प्रतिभास है जो कि आत्मा यह (अहंम) नहीं है न यह आत्मा है। अत: अहं को अनहं करना भी व्यर्थ है। है कितनी अत्यावश्यक बात यह। परन्तु इसे भुलाते हैं सब लोग।

और अब परमावश्यक है जो सूक्ष्मतम सबका स्वयम् अभिन्न एवं सर्व से कीमती अपना आप, जिसे दार्शनिक ग्रन्थ आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, पुरुष तथा द्रष्टा कहते हैं।

यदि आप ही नहीं तो करें क्या? देखें क्या? मिटायें बनायें किसे और कौन? बद्ध और मुक्ति का ज्ञान करे तो कौन? परमात्मा ईश्वर को जाने तो कौन? भक्ति योग भोग करे तो कौन या त्यागे तो त्यागे कौन जो आप ही न हो? इतनी आवश्यकता है अपने आपकी। जिसके बिना कुछ न हो, और जो सबके बिना हो. सबका अपना आप हो, अभिन्न हो तथा सर्वाधार हो जिसका विनाश ही न हो वही परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म पुरुष द्रष्टा या आत्मानामों से कहा गया है और वह सिवा अपने आपके कौन निकला? ऊपरी पीछे कहे बाह्य जगत का आधार आप ही है। आप नहीं तो कुछ नहीं। परन्तु आप नहीं, ऐसा होता ही नहीं। कुछ नहीं तो भी नहीं का अनुभव करने वाला आप है ही। इन सबके भाव व अभाव को जो जाने वही भावातीत अपना आप है। और इसी को अनिर्वचनीय सदसत से विलक्षण 'आत्मा' कहा गया है। यही वह परमावश्यक है जिसे जानकर 'भक्ति' शान्ति व स्थिति व जीवन आनन्दमय होता है। जो आत्म ज्ञानी हैं वे अपने अतिरिक्त अन्य जगत के आने जाने में इसी से हर्ष शोकरहित रहते हैं कि उन्हें अपना एवं बाह्य जगत का स्वरूप मालूम है। जगत आवागमनशील एवं अपना सदैव अखण्ड एक-रस स्वरूप है। परन्तु अपने आपके प्रति सर्वत्र उपेक्षा ही रहती है। क्यों? क्यों कि अपना आप तो सबका स्वयम् स्वरूप ही है। खोज दूसरे की ही हुआ करती है आप तो होता ही है खोज के पूर्व बाद व मध्य में। अत: जो खोजा गया वह आत्म ज्ञान था न कि आत्मा, जिसने खोजा वह चित्त था और जिसे मिटाया या मिलाया वह था यह मिथ्या जागृत स्वप्न तक का जीवों में 'जीव'। और यही जीव मिला अपने आप में जो कि इस जीवरूप मैं का ईश्वर था। इस प्रकार जीव ईश का मिलन अपने आत्म ज्ञान में ही सम्भव है।

आत्मा नित्य प्राप्त है स्वयम् है। इसी से इसकी खोज नहीं होती। लगती है किसी को संस्कार के दबाव में परन्तु उस लगन से पीड़ित होने के बाद भी कहीं यही ज्ञात होता है कि पाना क्या है तुम्हीं तो हो! और फिर इस प्रकार जानकर कभी अपने आप पर हो कभी क्रोध, लज्जा व संस्कार डालने वालों पर भी घृणा व मिलाने वाले के प्रति कृतज्ञता होती है। परन्तु अपना आप गुम था ही कहाँ?

क्रमश: पूर्वोक्त अत्यावश्यकों की खोज होने पर परमावश्यक रूप अपने आप का ज्ञान होने पर विवेकी व्यक्ति तदनुसार व्यवहार में यथा योग्य महत्व देकर हर व्यवहार में सन्तुलित बुद्धि रखने में समर्थ होकर व्यर्थ अशान्त नहीं होता।

बेशर्त

कर्म प्रेम, सम्बन्ध; सेवा, साधन, धर्म कर्त्तव्य पालन सभी बे-शर्त करो। आज तो राज्य संचालन में भी जनहित का गला घोटकर सशर्त कर्म, सशर्त मदद करने वालों ने राष्ट्र के हर व्यक्ति को दोगला विश्वासघातकी तथा बदले की भावना से आक्रान्त कर दिया है तथा कहीं किसी को. कोई भी 'अपना' नामसे नहीं दिखाई दे रहा है। जहाँ बदला मिलने की भावना से प्रेम होता है वहाँ तो छल है और जहाँ छल है वहाँ न शान्ति है न सिद्धि न प्राप्त सिद्धि से लाभ व सुख। जो नेता समाज पर हमारे चरित्र का क्या प्रभाव पड़ता है एवं समाज छली कपटी व सेवा विहीन होगा तो क्या परिणाम होंगे, यह विना बिचारे केवल अपने लाभ को ही देखते हैं वे केवल गिद्ध हैं जो जीते को तो मरने देना चाहेंगे और मरे को तो खायेंगे ही। लड़लड़ कर खायेंगे। और गिद्ध वृत्ति से कोई इज्जत है ?

पति पत्नी भाई बहन शिष्य गुरू श्रमिक व स्वामी अधिकारी व कर्मचारी, भक्त व भगवान ये जहाँ सशर्त वृत्ति के हो जाते हैं—अपना कर्त्तव्य क्या है यह जब भूल जाते हैं—तब केवल अराजकता फैलती है और अराजकता का परिणाम संघर्ष अकाल, दुःख बंधन व मृत्यु तथा तानाशाही ही होता है।

ईश्वर की सम दृष्टि ने हर जीव को अपने कल्याण एवं जीवन के लिये सभी कुछ करने को स्वतंत्र किया है परन्तु वहाँ भी स्वर्ग नर्क व यम लोक के स्थान हैं जहाँ पुण्य पाप को भागी अपने-अपने लोक सुख-दुख व सजायें भोगें। यह सब करो परन्तु यदि भगवान को याद करते रहें तो उसे (भगवान को) ताना शाह बन संहारक वृत्ति द्वारा आने का अवसर नहीं आता। एकेक के कल्याण व सुख शान्ति में सहयोगी, ऊपर से नीचे—ब्रह्मा से चींटी तक जब सबको बना रखा है तो मानव को भी इसी स्वभाव को धारण करना चाहिये। स्वार्थ व सकामता ने यह देखना भुलाकर मानव को आसुरी वृत्ति में भोग एवं अर्थ वृत्रि का गुलाम बनाकर पुण्य, सत्कर्म, सेवा व कल्याण को ताक में धर दिया तथा आज वह विश्व संहार करने पर उतारू होता जा रहा है।

सारे घर फूट गये। सारे समाज के स्नेह बंधन टूट गये। राष्ट्रों की सांस्कृतिक दीवारें ढह गई। सुख के सारे स्रोत रूक गये, प्राकृतिक मदद जो जीवम में हर जीव को मिलती थी लौटती जा रही है, एवं आज का मानव विकराल विभत्स हँसी हंस रहा है। और इसे कहा जा रहा है कि प्रगति हो गई है।

नि:स्वार्थ प्रेम करने की आदत धर्म भाव ही देता है। परन्तु स्वार्थी वहाँ भी धर्म के कार्य करता है—भक्ति पूजन दान धर्म सेवा ध्यान व्रत तीर्थ पाठ पूजन वह भी सशर्त कर रहा है। और इस प्रकार सर्वत्र अधर्म ही हो गया है। सतयुग में अधर्म धरती के किसी नीचे के लोक में था—जल में—भगवान ने वहाँ जाकर उसे मारा। त्रेता में वह भारत के पास आया भगवान ने उसे वहाँ जाकर मारा। द्वापर में वह भारत में ही घर-घर में आ गया। तब कृष्ण रूप में भगवान को बड़े परिश्रम एवं सजगता से चुन-चुन कर नि:शंक होकर उसे मिटाना पड़ा (परन्तु आज तो धड़-धड़ में असुर है, अधर्म है। अधर्म है। अब कितना बड़ा संहार होगा ? हे मानवों! अब बहुत बड़ा संहार होगा।

भगवत् बुद्धि धारण करो। धर्म बुद्धि धारण करो। निषकाम कर्म कर्तव्य-बुद्धि से बिना बदले की भावना से, भगवान की आज्ञा पालन की भावना से समाज सुरक्षा संगठन व जीवन के सुख के लिये करो। परन्तु इस प्रकार इस बदले की भावना ने तो सर्वत्र बदला लेने की खूंखांर कट्टु भावना के द्वारा आज सर्वज्ञ आतंक भय दु:ख व असुरक्षा ही उत्पन्न कर दी है।

माता-पिता भाई बहन पति पत्नी, पुत्र पिता माता, शिष्य गुरू, भक्त भगवान, कर्मचारी अफसर मजदूर' मालिक, सभी अपने कर्तव्यों का पालन करें निस्वार्थ, निष्काम, निर्व्याज, बे शर्त, प्रेम करें सेवा सहयोग करें। वो जिनके लिये तुम यह छल कपट ब शर्त से सेवा करते हो (उनके लिये भी बे शर्त) जो तुम चाहोगे वह भी प्राप्त करोगे साथ ही साथ हर्ष व मान-सप्रेम प्राप्त करोगे।

इतनी बिगड़ी हालत में भी सत्य ईमानदारी व निस्वार्थ सेवक की कीमत है तो धर्म सभी समय अत्यावश्यक है यह क्यों वह देखते हैं ? भगवान को भी बरबस वह रौद्र रूप धारण न करवाओ। वह तो सभी को रखना चाहते हैं—परन्तु दूसरों के गला घोंट कर जीने वालों को नहीं रखना चाहते। क्योंकि सबको जीने का हक है। "जीने दो और जीओ' यह उनकी आज्ञा है।

जहाँ भी जितने संघर्ष हैं इन प्रत्युकार की भावना से ही हैं। रहना तो सबके साथ ही होगा। तब सबसे प्रेम क्यों नहीं करते ? प्रेम ही एक ऐसा गुण है जो बिना चाहे भी यह सब देता है जो आप चाहते हो। भगवान प्रेम स्वरूप हैं अत: उन्हीं के पास समस्त संसार है। अत: प्रेम करो, प्रेम करो, परन्तु शरीर रूप क्रिया धनमान सुख के लालच में नहीं, स्वाभाविक प्रेम करो।

हजारों कन्यायें मातायें पुरूष बच्चे मजदूर मालिक इसी सकाम खूंखार सशर्त प्रेम के कारण दिन व दिन रोज मरते हैं। शादी में प्रेम-दहेज का राज्य में प्रेम–घूसका। विभागीय कर्मचारियों का प्रेम-पैसे का सर्वत्र यह प्रेम सभी विभागों को ठप करके रहेगा और एक दिन सबको ठप करके रहेगा। क्योंकि भगवान भी फिर सबको गुप्प कर देंगे।

ये घेराव हड़ताल बंद भगवान को भी आते हैं। न करें कि उन्हें भी यह शस्त्र उठाने पड़ें। वे तो एक क्षण में भी सबको ठीक कर सकते हैं। आज से बीस वर्ष पूर्व जिनकी निंदा करते करते नहीं अघाते थे उन राजाओं गोरों को निकाला दबाया और खुश हुये परंतु उनसे अच्छे शासन की डींग मारने वाले आज दूध पानी सुख प्रेम व रोटी के लिये तरसा रहे हैं। आपस का सहज स्नेह जो पहले थी मिटा दिया। चरित्र, संयम नम्रता आदर बुद्धि कर्म पालन में उत्साह व लगन जो थी आज मिटाकर केवल दोष दे देकर राज्य करने की प्रवृत्ति का प्रकार अवश्य कर दिया गया। क्या हुआ ? चाहे सारी विभूतियाँ हो जायें परन्तु यदि यह प्रेम न रहा तो कुछ नहीं रहा। यदि यह है तो सब है। परंतु यह प्रेम सशर्त कभी नहीं रह सकता चाहे अभी से हजार गुना सुविधा देख लें। परन्तु आखिर आना पड़ेगा इधर ही (चाहे ठोकर खाकर आवें) प्रेम करने के नियम का स्वभाव डाले बिना कदापि कहीं किसी को भी सुख शान्ति स्वास्थ्य व निर्भयता नहीं आयेंगी।

आज इन स्वभावों से अस्पतालों में रोगी भी दुखी है, मालूम बच्चे दुखी हैं; सिसकती बूढ़े बूढ़ियाँ दुखी हैं, मूक प्राणी दुखी हैं, निर्दोष सज्जन दुखी हैं, हे प्रभु, क्या बतायें, विश्व कल्याणमयी भावनावाले सन्त भी दुखी हैं, सशर्त काम सशर्त प्रेम, सशर्त सब कुछ। भगवान देख रहे हैं। बदला देंगे पर मैं कहता हूँ, उनको यह पग उठाने के पूर्व ही हम ठीक रास्ते पर आ जायें—वे शर्त-काम, सेवा, भाव, बेशर्त-प्रेम, बे शर्त सब कुछ करना सीख लें, आदत डाल लें। तभी आप सबका, विश्व का कल्याण हो सकेगा। परन्तु अभी आसार ऐसे दीखते नहीं हैं।

वे शर्त ही तुम्हारा स्वरूप है, वे शर्त ही परमात्मा है। वे शर्त ही प्रकृति है। केवल देह के संग में पड़कर तुम अब क्यों सशर्त बन रहे हो ? वे शर्त में ही नींद आती है। भला !

विचित्र प्रहलाद

लाखों वर्षों से एक ही प्रहलाद की चर्चा उसकी प्रेमाभक्ति एवं उस पर हुए भगवद-कृपा का वर्णन होता आया है। यद्यपि यह ठीक है फिर भी सदा एक की ही महिमा सुनते-सुनते कभी अब आ ही जाती है। यदि अपने में उत्थान न हो या न हो सकने की धारणा हो या अन्तरामा उसे होने देने में ही अनुकूल न हो तो एकाध बार

ईर्ष्या सी हो जाती है। इतने दिन उसी एक प्रहलाद की महिमा सुन-सुनकर क्यों दूसरा प्रहलाद अब तक कोई न बना ? कहीं अपना आन्तरिक प्रहलाद स्वरूप देखकर ही तो यह बेपरवाही नहीं हुई है ? मुझे तो उससे ईर्ष्या है ? मधुर ईर्ष्या ! मैं अपनी ओर जब देखता हूँ तो प्रहलाद मुझे कुछ भी नहीं जँचता।

एकेक बार आग, पानी, पत्थर, मार, जहर यातनाओं से बचा प्रहलाद इतना माना जा रहा है। यदि इससे भी ज्यादा मैं अपने को दिखा दूँ तो ?

सृष्टि चक्र जब से चला है मैं उसी तरह अब तक यातनाओं से गुजरता आ रहा हूँ। जब से अपने को भूलकर मैंने इस क्षुद्र अहंम का संग पकड़ा, प्रति शरीरों में जाने कितनी यातनायें सहनी पड़ी हैं। इन शरीरों को जाने कितने बार किस किसकी खुराक के रूप में अग्नि में भूनते उबलते जाने कितनो के दाँतों चोचों में से जठराग्नि द्वारा पचते हुए कष्ट सहने पड़े। जाने कितनी बार वृक्षों के फलों के रूप में ऊपर से फेंका गया हूँ। पाषाण की चट्टानों के रूप में पहाड़ों से लुडकाया गया हूँ। प्रतिदिन की साग भाजियों में छोंका गया हूँ : ऊखलियों में कूटा गया हूँ लाखों करोड़ों बार हर प्रकार की यातनाओं में अब तक किसी की भी शिकायत न करता हुआ 'मैं' अब तक सुरक्षित हूँ। मैंने भगवान को भयंकर रूप धारण करने को कभी मजबूर नहीं किया। वे तो हर समय मेरे सामने ही यह सब देखते रहे, मैं जानता रहा। मेरा हिरणकश्यप मेरे साथ ही सदैव रहा है। काम एवं वासना रूप हिरण्यकश्यप व उसकी पत्नी ही ये सब कराते रहे हैं। मेरा देव स्वरूप नारद ही स्वयं इन दोनों के हर प्रयत्न में अपने को बचाने में सदैव कुशल रहा है। ये स्वयम परेशान हैं कि अब तक यह बचा तो कैसे ?

मेरे सामने सभी हारे हैं। मेरे न मिटने वाले स्वरूप को देखकर अब ये सब स्तम्भित होकर विनष्ट हो गये हैं। किसी अन्य परमात्मा को बुलाने की आवश्यकता न रही। सर्वत्र इस अजीव लीला की मस्ती में हर रंग में अपने को रंगा देखकर मेरी होली हो रही है। सभी देव वन्दना करके मुझे रिझा रहे हैं एवं उत्तम प्रकार का आल्हाद (प्रहलाद) सबको प्रिय हो रहा है :

मुझ अविनाशी प्रहलाद की यह कहानी केवल मेरी ही नहीं, हर पाठक की भी वही निकलेगी। आज तक अनेकों यातनाओं में भी सबसे बचकर निकल भागने की मेरी खूबी आज तक किसी ने नहीं जान पाई। और मेरे पास सदा रहकर इस चित्त ने भी वही पढ़ लिया है। और मैंने तो अब अपने चित्त का नाम 'प्रहलाद' रख दिया है जिसे देखकर सभी देव असुर त्रिगुणात्मक जगत मोहित हो गया है। इस प्रहलाद को देखकर भगवान इसके सम्मुख बिना किसी भयंकरता के सदैव प्रत्यक्ष रहने लगे हैं। यहाँ तक कि अब मैं ही वह प्रभु हूँ जो इस प्रहलाद को बचाता रहा हूँ, यह ज्ञान हो गया। ऐसा प्रहलाद तो सर्वोत्तम है जो स्वयम् ही उभयात्मक रूप में भक्त एवं भगवान है।

अब आप और किसी की तारीफ न करें। वह भी मैं था और यह भी मैं ही हूँ। और हम आप सभी नहीं हैं। अब हिरण्यकश्यप सदा के लिए नहीं है। निरंकुश केवल व्यापक विष्णु ही है। स्वयम्।

●

कैसे रहें

●

जो भी आकर पूछता है "महाराज! कैसे रहें?" मैंने पूछा "हम कैसे रहें?" तो बोलते हैं "हम क्या बता सकते हैं?" परन्तु हमारे लिए अवश्य आप कृपा करके बतायें कि हम कैसे रहें? हर व्यक्ति अपने-अपने स्थान परिस्थिति अवस्था आदि के बिन्दु से यही पूछ रहा है कि कैसे रहें? और आश्चर्य यह कि पूछता भी वह तभी होता है जब वह रहता ही है। तो रहते हुए भी यह पूछना कि कैसे रहें आश्चर्य नहीं तो क्या है?

हम पूछते हैं कि कैसे भी रहोगे चाहे पूछकर या स्वत: के इच्छानुसार परन्तु रहोगे तभी न ऐसे वैसे रहोगे कि रहोगे ही नहीं तब रहोगे? तो रहोगे तभी रहोगे चाहे जैसे रहो। और यह रहना हम से पूछकर रहना है? यदि कहो कि ऐसा रहना भी किस काम का कि रोते रहें, कुढ़ते रहें परेशान रहें? हम पूछते हैं कि रोते, कुढ़ते, होते भी रहना तो तुम्हारा होता ही है? तुम्हारे रहने को किसी ने मिटा पाया नहीं। इन सब अवस्थाओं ने तुम्हारे रहने को बनाया नहीं और जैसे तुम अच्छी हालत में रहना जानते हो वैसे ही बुरी में भी। हाल में चाहें जितनी हालें डुलें तुम अवश्य उनमें रहते ही हो। यदि तुम्हारे अस्तित्व को किसी ने भी मिटा, बढ़ा, घटा, नहीं पाया तो तुम्हें इस प्रकार के रहने से अधिक और क्या पढ़ाया जाय?

अपने बने बिगड़े घटे बढ़ें जन्मते मरते देह में चंचल विकारी, स्थिर मन में; बुद्धिमान बुद्ध बुद्धि में; समाधिस्थ या चंचल चित्त में एवं अहं के स्फुरण के लय में तथा अज्ञान एवं ज्ञान में तुम्हारा होना अनिवार्य है। बिना तुम्हारे रहे इनका कोई भी अस्तित्व ही न रहे। तुम्हारे सब जगह रहने वाले स्वरूप को यदि तुम्हीं बुरा समझकर वैसा न चाहकर बदलना चाहो तो यह असम्भव है। अपने तन मन बुद्धि अहंकार चित्त एवं इनके द्वारा रचित यह विभिन्न वृत्ति पद जगत में तुम सदैव रहे हो और रहोगे। अब यह बात और है कि इसे तुम देखो या न देखो। अच्छा लगे तो देखो न लगे तो न देखो। परन्तु दोनों हालत में रहना पड़ेगा अवश्य। और यदि तुम्हारे स्वरूप को—'अस्तित्व' को ये न मिटा सकें तो तुम्हें इससे खुशी ही होनी चाहिये। और यदि

खुशी हो गई है तो अब तुम्हारा यह प्रश्न कि कैसे रहे भी उत्तर पा चुका होगा। प्रियात्मन् ! जैसे तुम अब तक सब में सर्वत्र रहे हो वैसे ही असंग रहो। हमसे क्या पूछते हो कि कैसे रहें ? सब में रहते हुये सबका बयान करते हुए सर्वत्र संग में रहते हुए भी तुम वह और वह तुम न हुए। तो फिर इससे ज्यादा तुम्हें क्या पढ़ाया जाये ? तुम्हें किसी से पढ़ना नहीं है। तुम्हें ही देखकर सबको रहना आया है। भागकर तुम जाओगे कहाँ ? सब में रहना, सबको अपने में रखना तुम्हें आता है। अतः अपने स्वरूप को असंग समझकर तुम जैसे अब तक रहते आये हो वैसे ही निशंक रहो। तुम्हें कोई विनष्ट नहीं कर सकता। और इन बिगड़ने वाले नाम रूपों को अब तक तुम्हारे साथ रहते हुए भी तुम्हारे अविनाशी स्वरूप के समान बनना नहीं आया तो आगे के लिये क्यों विक्षेप ? ये कभी पढ़ ही नहीं सकते। तो तुम्हें अक्षत अविकारी एक रस बने रखते हुए भी ये रहते हैं तो रहने दो। तुम्हें सदैव ऐसे ही रहना है।

मैं पर आवरण

हर कोई अपने को 'मैं'-कहता समझता मानता है। और हर 'मैं' यही शिकायत करता हुआ दिखाई देता है कि दुखी है, अशान्त है, बन्धन में है अर्थात मुक्त रहना व होना चाहता है। परन्तु सदैव इस मैं का दुखी होना सही होता तो इसे सुखी होने की अभिलाषा भी न होती न सुखी हो सकता था। परन्तु सुषुप्ति काल में एवं समाधि में यह कभी दुखी नहीं रहता तो फिर जाग्रत में ही यह क्यों दुखी रहता है ? इसके कारण क्या है ? सुषुप्ति समाधि आदि में यह दुखी नहीं और जाग्रत में रहता है इसका कारण जाग्रत में जिनके साथ मिलने से यह दुखी होता है वे सुषुप्ति समाधि में स्मृति-संग में नहीं रहा करते होंगे। परन्तु क्या जाग्रत में भी इनसे असंग रहा जा सकता है ? परन्तु क्या सही में इसका इनके साथ संग होता है या कि वह मान ही लेता है ? और ये संगी हैं भी कौन ?

यद्यपि अन्य बाह्य कितने ही साधन दुःख निवृत्ति के बनाये जा सकते हैं और वे अनन्त हो सकते हैं अपनी अपनी दृष्टि के केन्द्र के कारण। परन्तु मूलतः मैं कभी अपने आस पास किसी अकारणों को मान कर उन्हीं को टिकाने मिटाने बढ़ाने आदि की चिन्ता में रहता हूँ तभी जाग्रत ही में इनका अभाव न देख कर (क्योंकि उसके लिये सुषुप्ति अवस्था होती है) अशान्त हो जाता है।

ये बाह्य आवरण वे ही होते हैं जो बचपन से शब्द द्वारा घेरे जाते हैं। जाति सम्प्रदाय अच्छाई बुराई अपने पराये के जो कि किसी बच्चे की पसंदगी को बिना पूछे ही भर दिये जाते हैं। और बस फंस गया होगा वह मैं फिर इन्हीं की दीवारों में रहकर ही इनसे निकलने या किसी को निकालने के प्रयत्न में दुखी रहता है। और अन्तर के आवरण होते हैं अपने तन-मन बुद्धि चित्त इन्द्रियाँ प्राण एवं संस्कार। जब भी इनसे निकलने की कोशिश यह करता है—इन्हीं द्वारा प्रयत्न करता है और प्रति प्रयत्न में फँसता हुआ या कभी कभी झूठा ही निर्लेपने का भान करता रहता है। जितने भी धार्मिक विचार या उपाय हैं वे भी इन ऊपरी कहे आवरणों को पहनने नहीं, उतारने के लिये ही आदेश देते हैं। जब तक मैं इनको उतार नहीं देता कदापि अपने शुद्ध स्वरूप का रसा स्वाद नहीं ले पाता तथा सुख की सांस नहीं ले पाता। परन्तु ये निकलें कैसे ? इन्हीं इन्हीं में उलझे 'मैं' सर्वत्र एकेक से कहीं इनके अभिमान से तो कहीं इनसे निकल गये के अभिमान में टकरा रहे हैं।

क्या निकलना संभव है ? क्या असली नंगा होते बन सकता है ? धर्म कहता है 'हाँ' ! तो कैसे ? जरा सूक्ष्मता से बारीकी से निरीक्षण करते ही यह सब उतर जाता है। विचार करें ! क्या दरसल में अपने ऊपर हैं ? यदि हैं तो क्या इन में से या इनके पार अर्थात् जहाँ जहाँ ये (तनमनादि) टिठक जाते हैं, ज्ञात नहीं होता ? यदि ज्ञात होता है तो वह अनावरण तो है ही। अथवा यदि ये आवरण अखरते हैं तो इसका अर्थ है यह 'मैं' निरावरण ही रहता है। जो जैसा नहीं होता वैसा कभी चाहता नहीं। आत्मा 'मैं' निरावरण होने से ही आवरणों को निकालना चाहता है। परन्तु निरावरण है ही तो उतारने का संकल्प क्यों ? तो केवल पढ़ाये हुये संस्कारों के कारण। तो आवरणों को नहीं इन संस्कारों को ही उतारना है। इन्हीं बाह्य संस्कारों की नहीं इन संस्कारों को आपस के वैषम्य से टकराहट है। मैं मैं में तो कहीं भेद नहीं है। यह मैं भी कभी आवरण सा लगने लगता है नींद के समय, मौन के समय ध्यान समाधि के समय। अर्थात् यह मैं जो दूर से शरीर संबंध से कभी तू-वह जो सो यह भी होता हुआ दिखाई देता है—वह 'मैं' अखरता है। तो यह मैं भी मैं नहीं हूं। यह समझ में आते ही सब मैं का एकत्व ही दिखाई देता है और फिर कोई भी बाहर के आवरण नहीं आवरण-अपने ही सब समझ कर। जल में डाले एक कंकड़ के बिन्दु से उत्पन्न जल चक्रों का कोई उस जल या बिन्दु पर आवरण भार या दबाव नहीं होता। परन्तु ये उस केन्द्र बिन्दु को भी आवृत किये होते हैं जब जब वह बिन्दु निर्माण किया जाय। यह 'मैं' बाह्य स्मृति जब जब उत्पन्न होता है ये तन मन बुद्धि प्राणादि परिवार के बल निर्माण हो ही गई जिनमें आबद्ध से ये बिन्दु लगा कहेंगे। परन्तु वास्तव में जिससे जो निर्मित होते हैं वे उसे अवश्य नहीं कर पाते उसी में विलीन रहते हैं। परन्तु स्वयम् के बाह्य इन बिन्दुओं—'मैं' को स्वयम् रूप समझ लिया जाय तो इन मैं तू के लक्ष्य स्वयम् को सर्वत्र देख कर

सभी आवरणों को ठाठ से पहनें या उतारें कोई खटका नहीं है। जिन्हें जब भी यह रहस्य ज्ञात होगा वे अपने नंगे (मैं पर आवरण) (शुद्ध) स्वरूप में ही सब के नग्न (असंग) स्वरूप का वास्तविक सुख ले सकेंगे। उनके लिये कोई कभी आवरण नहीं है। विश्व का कोई भी दुःख उन्हें कदापि न छूएगा। मैं पर कभी भी किसी आवरण का दबाव नहीं होता वरन् मैं का ही सब पर दबाव होता है। अत: आवरणों से संबंधित 'मैं' से पीछे स्वयम् को जो सर्व अवस्थाओं में बिना 'मैं' के रहता है—देखते ही जिधर तिधर स्वयम् ही स्वयम् दृष्टि गोचर होकर शिकायत के योग्य कोई रहता ही नहीं।

यदि आपको अपनी वर्तमान मान्यताओं में संतोष नहीं है तो आप पीछे हटें और सभी के आधार अपने आप को देखें। अपने आप तक पहुँचने के लिये 'मैं' की जरूरत नहीं है। 'गैर' आया कि 'खैर' नहीं रहती। गैर और खैर के बगैर भी अज (अजन्मी) का ये (मेल) अजमेर हो सकता है। 'गैर' को उतार कर अपने को देखते ही स्थिति है। कैसे उतारे ? तो है भी दाबा ? स्वयम् में गैर है कहाँ स्वयम् गैर है कहाँ पूर्ण स्वयम् तो स्वयम् ही है। यही स्वयम् असली मैं है जिसे मय कहें तो अति उपयुक्त होगा मैं सर्व मय।

●

'मेरे छोटे मैं'

●

मेरे छोटे मैं ! सृष्टि के आदि से यावत् सभी नाम रूप देश देशान्तर स्वभाव मन बुद्धि चित्त इन्द्रियाँ व कालों का तू उपभोक्ता रहा है। परन्तु आज तक न तू स्वस्थ रहा न शान्त न प्रसन्न। तेरी समय-समय की प्रसन्नता दुःख में डूबती उतराती रही। कितने ही पुरुषार्थ के बावजूद तू अब तक किसी को भी टिका न पाया। कभी तुझे सच्ची निर्भयता न आई। जब भी कुछ आपत्ति आई तुझे इतनी लम्बी आयु व अमरत्व प्राप्त होने पर भी तू डर-डर कर अवस्थाओं के कमरों में बच-बचकर छुपता रहा। और अधिक भय करते ही मूर्च्छित तक हो गया। तू अपनी सत्ता कोशिश करने पर न मुझसे अधिक कर पाया न सुषुप्ति में ही टिका पाया। तेरी वीरता के व दुःखी सुखी होने के कमरे—तेरे अहंकार को पस्त करने के क्षेत्र-जागृत स्वप्न ही रहे। वहाँ भी तू एक रस प्रसन्न व निर्भय न रहा। मिट जाने का भय तुझे जाने क्यों रहा ? जरा खुट पुट में बन्दर के समान, चूहे के समान पीछे लौट आता सदैव आनन्द रूप में जो तेरे हर अवस्थाओं में चुपके से तेरे साथ रहा, तू ने मुझे कभी न पहचाना। तेरे अहंकार भले ही बड़े से बड़े ब्रह्मापने से चींटी तक के जड़ चेतन के, सब किए आसक्ति को तूने भारी से भारी की परन्तु धिक्कार मुझे कि किसी भी अहंकार व आसक्ति के पदार्थ को

न टिका पाया न भूला पाया । तुझमें कोरा अहंकार व कोरी आसक्ति है, है तू सदैव डरपोक । गड़बड़ देखी तो सबको छोड़कर झट पीछे लौट आया, प्राण गया लौट आया इन्द्रियों में दु:ख हुआ लौट आया मन गुम हुआ (समाधि आदि में) झट लौट आया । कोई बड़ा अहंकारी (जो कि तू ही दूसरे रूप में था) नजर आया, झट लौट आया, तेरा 'मैं' जाने कितनी बार मरता सा मैंने देखा है । तेरे किसी भी खेल में न तुझे ही प्रसन्नता तृप्ति व स्थिर देखा न तू मुझे अच्छा लगा । अन्त:करण शीशे पर प्रतिबिम्ब के रूप में तू जागृत स्वप्न तक बिम्बित हो होकर भी कभी मुझे न समझ सका ।

मेरे अब तक के असफल इतिहास को देखते हुए अब तुझे यही सलाह आदेश या आज्ञा है कि अब तू लौट आ । मुझ में टिक जा । यदि नहीं ही आना तो रह परन्तु अपना अहंकार न रख । क्योंकि तेरी समा मेरे बिना नहीं है । तुझमें सब कुछ करने का जो बल था वह भी मेरा ही था । असली में मैं ही था परन्तु मैं कुछ बोला नहीं । अत: निरहंकार स्वरूप में तुझे यदि रहना है तो खेले चाहे जितना खेल । उत्तम है कि लौट ही आ । देख, केवल यहाँ मैं ही मैं । सर्व मय । तेरा खास पिता, माता, सखा, हृदयी, अन्तर्यामी, चेतन, सुख व विश्राम । तेरा सब कुछ कौशल मुझसे ही तुझे मिलता रहा है । असली में तुझे तो अहंकार ही रहा अहंकार । मुझे तो तुझसे भी अहंकार व आसक्ति नहीं थी । तेरी आसक्ति व अहंकार में तेरे पास कुछ भी नहीं रहा—परन्तु मेरा 'तू' सदा मेरे पास भी रहा और निरहंकार अनासक्त । तो तू फेल हो गया है—हर बार फेल । अत: ठीक ड्यूटी खेल न करने के कारण अब तुम ठीक तरह से मुझे पहचान ले और लौट आ, लौट आ । निरहंकारता से लौट आ । या रहना ही है तो सर्वत्र मुझे देखता हुआ निरहंकार निरासक्त रह । जा मुझे तेरो कोई जरूरत नहीं है ।

●

व्यापक का प्रदर्शन

●

क्योंकि ऐसी चाह रहती है कि जिसे देखूं सुनूं पकड़ूं या सोचूं मेरा ही हो जाय ? कितनी बार प्राप्त करने पर भी एवं हर बार उसका हाथ से निकल जाते देख कर भी फिर भी चाहे कोई भी हो ऊच्च से ऊच्च या नीच से नीच सब स्थान पर जंगम मुझे ही चाहिये ।

भक्ति में ईश्वर को अन्य मानकर चाहे जितनी उसकी महिमा पूजा ध्यान करें परन्तु उसके लिये भी चाह यही कि वह भी मिल जाय । और ऐसा मिले कि जब चाहें जहाँ चाहें और जैसे चाहें हमारे इच्छानुसार चले या ऐसे मिले कि हमें फिर फिर

मिलने के लिये परिश्रम न करना पड़े हम ही वह हो जायं ? क्यों ? क्यों ऐसी इच्छा लगी रहती है अपने ही अधीन यह सारा जगत व उसका अधिष्ठान क्यों चाहते हैं ? क्या यह दुराशा है ? क्या असुरी भाव है यह ?

नहीं ! क्यों न चाहे यह ? क्यों न चाहे यह ? क्योंकि जब सारा जगत अपना ही है ! आत्मा होने के नाते समस्त विश्व एवं विश्वाधिपति जब स्वयम् ही है तो अन्य रूप से दिखाई देने वाला या पढ़ाया जाने वाला क्यों अलग रहना पसन्द आयेगा ? कौन अलग कर सकता है इससे ? यदि चाहने पर उतारू हो जाय तो कोई भी इसके विपरीत व भिन्न नहीं रह पाता । कोई भी चीज सूक्ष्म अणु से महत्तत्व तक एक ही आत्मा के हैं । अतः आत्मा ही को यह जब पढ़ाया जाता है कि यह किसी अन्य का है तो उसका अन्तरात्मा कुलबुला उठता है । और यदि और का है तो देखें उसका होता है या मेरा इस जोश में वह हर किसी को अपने अपने प्रयत्न से अपना बनाकर ही दिखा देता है ।

तो किसी अन्य को चाहना, कामना, तृष्णा, दोष, लोभ मोह नहीं वरन् अनन्य बनाना ही यथार्थ है । हाँ यह बात और है कि देह के संग से उसे टिका न पाये, परन्तु अगर मैं यह मान लेकर संतुष्ट होना भी कोई कम नहीं कि 'मेरा हो गया' । यह माग अज्ञान शून्य नहीं अन्तरात्मा व्यापक आत्मा की सहज लीला है—पहचान है । यदि सच में देखा जाय तो किसी वाह्य आकार व नाम की आसक्ति नहीं होती, इच्छा होती है उसमें रहने वाले अपने आप के मिलन की । रोटी या मिठाई देखकर रोटी मिठाई से आसक्ति हो तो उसकी रक्षा करें, खायें नहीं परन्तु उसकी तो दुर्दशा भी पसन्द आती है । चित्त उसमें रहने वाले इस चित्र को कि 'हमारा तुम्हरा मिलन हो ऊपरी रूप जाने दो वह तो प्राय देह की खुराक बनाई गई थी, उसे उन्हें ही लेने दो, हम तुम मिल गये, एक यह देखने के लिये साथ ही रहनेवाला अन्तरात्मा अपना आप भी यह अपने को अपने स्वामित्व को देखकर खुश हुआ । और वहां कोई होता तो खाने ही न देता ? तो मन की या अपनी चाह प्रतीत होती है पदार्थों आदि पर, परन्तु होती वह केवल अपने आपके लिये, अपने आपकी । यह रहस्य समझ आने पर फिर चाहे मन तन इन्द्रियाँ पदार्थ देखें 'या न देखें', उनमें ये प्रवृत्त हों न हो फिर मांग रूप में कोई नही रह जाती । अर्थात् दोष होता तो तब भी रहता अतः हर ओर अपने आपके अद्वय स्वरूप के होने के कारण ही सबको आत्मीयता के भाव से देखने की, मिलने की, स्वाभाविक चाह सर्वत रखी है । यह आत्मा का, अपने आपका-व्यापक का अपनी सजा का प्रदर्शन है । अन्य नहीं है यह बताना है ।

●

तुम जैसा कोई नहीं

व्यवहार में कोई भी किसी एक जैसा दूसरा न मिलेगा। मनुष्य, पशु, पक्षी कीट पतंग, वृक्ष, पहाड़, नदियाँ, तारागण, देव असुर यक्ष गन्धर्व विधि हरिहर कहीं देखो एक जैसा कोई नहीं। इनके नाम, रूप क्रियायें, स्वभाव, आयु, बोली सबकी भिन्न ही मिलेगी। यही बात नहीं कि आपस में एक जैसा दूसरा नहीं वरन् यह कि कोई जैसा कोई नहीं मिलेगा। हर एक विश्व की सम्पूर्ण भिन्नता से भिन्न ही मिलेगा। यों हर एक अद्वैत ही है। मानो अद्वय का निर्माण यह सम्पूर्ण जान अपनी-अपनी जगह अद्वैत ही है। सर्वत्र अद्वय ब्रह्म अपनी सत्ता प्रदर्शित कर रहा है।

यही नहीं, अन्दर भी देखिये अपने में ही अपने को एक जैसा कोई न मिलेगा। शरीर में ही हर अंग अपने-अपने नाम रूप क्रिया, स्वभाव से भिन्न-भिन्न हैं। इनके द्वारा की जानेवाली क्रिया भी भिन्न ही होगी। दूसरे जैसी न होगी। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का भिन्नता अलग है।

अन्दर देखिये तो प्राण। प्राणों में भी दस प्राण (पंच प्राण) पंच उप प्राण। सबकी क्रियायें अधिकार स्थान भिन्न-भिन्न। प्राण की हर तरंग में एक अपनी पृथक् विशेषता कह दें तो अतिशयोक्ति न होगी। शरीर के समान प्राण नहीं, प्राण के समान शरीर नहीं व दोनों की क्रियायें भिन्न-भिन्न व आपस में उन्हीं से उनकी क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं। अर्थात् शरीर से शरीर की क्रियायें उसके स्वरूप से भिन्न। इसी प्रकार प्राण की भी।

और देखिये कि मन इसका अपना ठाठ और ही है। सारा जगत मानो इसी फैक्टरी में रखा हुआ है। इसका मूल रूप तो कभी जाना ही नहीं जाता। कल्पनायें न हों तो इसका रूप पकड़ना भी मुश्किल है। एकेक कल्पना आपस में भिन्न व मन इन सबसे भिन्न। अल्प से अल्प व सूक्ष्म से सूक्ष्म दीखती हुई भी विश्व को हिलाने की सामर्थ्य देखें तो इसी मन की कल्पनाओं में दीखेगा। इसी मन की आँखों में तेल डाले (एकाग्र होकर) बैठे हजारों वर्ष योगी जन बैठे रह जाते हैं फिर भी पार नहीं पाते। गिनती हो ही नहीं पाई कि कितनी चीटियाँ इस मन बिल में रहती हैं। अनवरत आवागमन शील कल्पनाओं का तांता बन्द ही नहीं होता। फिर भी हरेक अलग-अलग और मन भी इन सबसे अलग। कामना ही इन कल्पनाओं का स्वरूप होता है।

अब बुद्धि को देखिये। विश्व का ज्ञान कोष। निर्णय करते-करते इस ब्रह्मा ने जाने क्या-क्या इन्द्रिय प्रत्यक्ष करने के लिये फैला रखे हैं। समस्त विश्व का ज्ञान ओक

डालने पर भी थाह नहीं लगता कि अभी कितना शेष है ? हर विचार भिन्न-भिन्न है एवं बुद्धि अपना अस्तित्व सबको अपने में थामने, संचालित करने एवं लौटाने में समर्थ अलग ही है। समस्त विद्वान् इसी बुद्धि में लटके हैं।

चिन्तन करने वाले इत चित्त को देखिये। समस्त योगियों से लेकर भिन्न-भिन्न पिण्ड इसकी एक-एक क्रियों का ही रूप है एवं एकेक वृत्ति में हा उनके समस्त जीवन चल रहे हैं। योगी लोग इसी चित्त को समेटने में रहते हैं। यह एक अलग ही महकमा है।

और यह अहँ देखो। सम्पूर्ण चित्त वृत्तियाँ, उससे सम्बन्धित बुद्धि व विचार उनसे अनुकूल मन व उसकी कल्पनाओं व उनके आश्रय इन्द्रिय व शरीरों के द्वारा बाह्य जगत का भोग करते हुए सर्वाधार है तो यही अहं है। यह मानो राजा के समान है। हर पिण्डों का राजा। हर ब्रह्माण्ड का राजा एवं समस्त विश्व का त्रैकालिक राजा। इसके समान कोई नहीं। उपरोक्त की भी आपस में एकेक के समान कोई नहीं है।

परन्तु अब देखिये गौर से देखिये कि क्या आप इनमें से किसी के समान हैं ? किसके समान हैं ? इन्द्रिय, शरीर, प्राण, मन, बुद्धि; चित्त अहं, क्रियायें, कल्पनायें, विचार, वृत्तियाँ व अहंकार किसके समान आप हैं ? ये सब आप को नहीं जानते। ये कोई भी आपको नहीं बनाते। आप सबको जानते, सबके आधार होते हुए भी असंग हैं। तो आप किसी से भी नहीं मिलते। यह सब आपका दृश्य है। आप द्रष्टा हैं। आप सत्य रूप अविकृत रहने वाले एक रस चैतन्य ज्ञाता व आनन्द रूप हैं। न आप इन जैसे न ये कोई आप जैसे हैं।

तो आप किसके समान बनना या किससे अलग होना चाहते हैं ? किस कर्म योग भोग, तप, जप, ध्यान, समाधि, भक्ति, सेवा आदि-आदि से आप जैसे अभी हैं उनके सिवा और क्या बन जायेंगे ? कौन सा कर्म आप जैसा है जो आपको बनायेगा ? कोई भी कर्म, देवता साधन भोग कोई आप जैसा नहीं है। आप अद्वैत हैं अजन्मा, अकर्ता, अभोक्ता स्वयम्भू सर्वाधार हैं। इन सबसे कर्मों को करवाते रहना चाहें परन्तु आप कर्मों से कुछ बन जायेंगे यह मोह छोड़ें ? किसी में आनन्द नहीं है सिवा आपके, अत: किसी से आनन्द की, अविनाशित्व व चेतना की आशा न करें। शायद यह सिद्ध करने के लिये आप कर्म करते रहे कि देखो मेरे जैसा कोई न बन सका। जब कोई भी कर्म आप जैसा नहीं तो कोई भी आप जैसा निर्माण कैसे कर जायेगा ? अत: यह अनन्त बार परीक्षित है कि आप जैसा कोई नहीं। किसी के आशीर्वाद श्राप व कर्म से भी आप जैसा कोइ नहीं होगा क्योंकि आप ही के आशीर्वाद व श्राप से सब जीते व मरते हैं। सद्‌गुरु का यही बार-बार घोर गर्जन है कि 'आप जैसा कोई नहीं, तुम जैसा कोई नहीं।'

सब में अहम एक

वास्तव में भिन्न-भिन्न कहीं कितने ही कोई शरीर हों, परन्तु यह एक तथ्य है कि हैं वे पंच भूत के ही। सब में पंचभूत ही हैं। समष्टि पाँचों भूत किसी भी पिण्ड से कदापि भिन्न नहीं हैं। अर्थात् हर शरीर के साथ पाँचों भूतों का सम्पूर्णतः सम्बन्ध है। शरीर के पृथ्वी अंश का समस्त पृथ्वी से, शरीर के जलांश का समस्त जल से, शरीर के अग्नि अंश का सम्पूर्ण विराट सामान्य व विशेष सूर्यादि से पिण्ड के हर स्वांस के साथ समस्त बाह्य व्याप्त वायु से, हर शरीर के प्राण के साथ समष्टि विश्व के प्राण का व हर शरीर के अन्दर रहने वाले अवकाशों का व्यापक आकाश से अखण्ड सम्बन्ध है। अर्थात् पंच तत्वों में जो अपना आपस का समन्वयात्मक घर्षण सा होता रहता है उसी के परिणाम रूप में ये सारे बनते मिटते पिण्डों का जीवन है। जिस तरह वर्षा के जल से सने मिट्टी के ढेले बनते हैं सर्दी ने उन्हें कड़ा किया गरमीने उन्हें निरस किया गरम किया और फिर वर्षा ने पसरा दिया। इसी प्रकार ये सारे पिण्ड बनते, घटते, मिटते व फिर-फिर बनते रहते हैं। इनकी अपनी कोइ स्वतन्त्र क्रिया नहीं।

इसी प्रकार हर शरीर में यह जो संकल्प विकल्पात्मक अनन्त कल्पनाओं का गड्ढा (गठरी) मन है यह भी अनन्त का व्यापक समष्टि मन का ही अंश या प्रतिबिम्ब है। पंच भूतों के हर पिण्ड में समष्टि मन का कुछ अंश घिरा-सा लगता है। यद्यपि सूक्ष्म तत्व घिरता नहीं, रहता है व्यापक होने से। पंचभूतों में भी जो एकेक की अपेक्षा सूक्ष्म है वह अल्प में घिरा नहीं व्यापक है वरन् यह कहा जाय तो उत्तम होगा कि व्यापक में ही ये पिण्ड व स्थूल घिरे होते हैं। तो इन छोटे-छोटे लगने वाले इन मनों में भी समष्टि आत्मा के मन का अखण्ड पूर्णतः सम्बन्ध है। उसी कीं कल्पनायें क्रमशः हर मस्तिष्क में प्राण घर्षण के द्वारा उत्पन्न विद्युत में व्यक्त होकर हर मन में आती रहती व जाती रहती हैं। इसी कारण भूली बिसरी सब कल्पनायें स्मृति की एकाग्रता अर्थात् समष्टि में झाँकते ही ज्ञात होती हैं। यद्यपि तब तक जाने कितनो दूर अन्य मस्तिष्क में जा चुकी होती हैं। अर्थात् हर मन एक समष्टि मन का आभास है अंश है अखण्ड सम्बन्धित है।

इसी प्रकार निर्णय करने की शक्ति एवं विचारों की पेटो यह हर पिण्ड की बुद्धि भी अनन्त में व्याप्त समष्टि बुद्धि का ही प्रतिभास है—स्वतन्त्र नहीं। समष्टि ज्ञान का ही कुछ-कुछ अंश हर खोपड़ी में समय समय पर उदित हो होकर विलीन होता हुआ पिण्डों को धारण करता, संचालित करता एवं भोग द्वारा विलीन होने की राह पर ले जाता

रहता है। इसीसे अपनी बुद्धि का अभिमान करने की किसी को गुञ्जाइश नहीं। क्यों? कि समष्टि बुद्धि एक पिण्ड में न आ सकती है, न जरूरत है न वह लाद सकता है। परन्तु यह निश्चित कि हर पिण्ड में यह निर्णय शक्ति एक ही समष्टि से सम्बन्धित है। यही महत्ता है।

इसी प्रकार यह चित्त भी समष्टि विश्व विधाता के चित्त का ही स्फुलिंग है या कहिये शक्ति स्रोत की एकेक लहर है। यह चित्त जो अपनी बुद्धि मन प्राण शरीर को सम्हालता है वह है तो वही समष्टि चित्त जो कि समस्त विश्व की बुद्धि मन प्राण व शरीरों को सम्हाल रहा है। यों समझिये मानों एक ही नक्शे में ये सब चिपके हैं। जब वही हिल रहा है तो ये भी हिल रहें हैं। या और स्पष्ट कहें तो यही कि ये सब भिन्न-भिन्न पिण्ड शीशे हैं और समष्टि चित्त अपने आप में चैतन्य जो होता है—गति मान है—उसकी हर शीशे में अपनी-अपनी उपाधि के अनुसार समय-समय पर कुछ-कुछ झाँकी आती रहती है। यही प्रकृति है।

और यह आये अहं देवता। यह भी उस समष्टि विश्वाधार अहं—ब्रह्मा-ईश्वर-पुरुष-हिरण्य गर्भा आदि नामों से वर्णन किया हुआ आदि देव है, जो अपने अभिमान में सम्पूर्ण विश्व को अपने में धारण करता हुआ सबकी उत्पत्ति स्थिति विलय करता हुआ भोग करता हुआ तटस्थ भी रहता है। उसका भोग यही है कि उसका स्वामित्त्व वह सदैव स्मरण रखता है। यही हर पिण्डों में भिन्न-भिन्न सा 'अहं' बन अपने इन व्यष्टि पिण्डों को धारण करने का अहंकार करता है तथा समष्टि को धारण करने में ईश्वरत्व का। पर है एक ही से सम्बन्धित ये सब अहम् और अन्त में सबमें स्वयम् स्वयम् मैं, 'मैं' नाम से अपनी अस्मिता को जनाने वाला जो है वह भी इन समष्टि सम्पूर्ण विश्व को व विश्व के अहं को, चित्त को, बुद्धि को, मन को, प्राण को शरीरों को एवं पदार्थों को अपने स्वरूप में निर्भार धारण करता हुआ सब में अपनी सत्ता को अक्षुण्ण बनाये रखता है। यह सबका 'हम' है वही 'हम' है। सब अपने को मैं या हम कहते हैं अर्थात् परमात्मा जो सब में असंग सर्वाधार निरपेक्ष चेतन सत्य एवं आनन्द है अर्थात् जिसे अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य की आवश्यकता नहीं रहती, वही सब में इस प्रकार अपनी सत्ता घोषित करता हुआ अपने सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है—संचालित करता है। इतने पर भी उसे अहंकार नहीं रहता (स्वयम्) या 'मैं' अहंकार का वाचक नहीं। यह अहंकार अभिमान तो सब इस समष्टि 'अहम्' में ही दे दिया है जिसमें ही विश्व की सम्पूर्ण वृत्तियों को धारण करने का (समष्टि या व्यष्टि जागृत स्वप्न तक ही) अधिकार दिया है। मैं या स्वयम् या प्राकृत भाषामें 'हम' सदा शुद्ध ही है। और है भी वही हम जो सबका हम है। या जो सबका सब में हम सोऽहम। जब सब में हम ही है तो सब अपना है। सर्व में अपना ही कौशल है, नियन्तापन है। अपनी समा से भिन्न

किसी को जाने का अधिकार नहीं। अपने संचालन में ही सम्पूर्ण विश्व व विश्व विधाता है।

इसी एक ज्ञानाभ्यास से ज्ञानी जन असंग भी रहते हैं एवं सम्पूर्ण भोगों में लीन से भी दिखाई देते हैं एवं सर्व नियन्तापने के कौतुक भी करते हुए दिखाई देते हैं। परन्तु उनके इस 'हम' स्वरूप को स्वयम को कोई कोई ही जान पाते हैं जो सबसे सदैव असंग है।

जिन पर उनकी 'स्वयम्' की कृपा होती है वही इस रहस्य को जानकर उसी में स्थित होता है।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यै ते कार्यताह्यर्थः प्रकारान्ते महात्मनः। प्रकारान्ते महात्मनः।। वेद।। जिसकी ईश में जितनी भक्ति होती है उतनी ही जब सद्‌गुरु में होती हैं उसी के हृदय में यह भक्त प्रकाशित होता है। यह प्रतिज्ञा है वेद की।

●

राम का तीर एक, अनेक होकर वापस

●

कहते हैं कि श्री भगवान राघवेन्द्र रामचन्द्र का तीर वे इस कौशल से चलाते थे कि उनके तुणीर से निकला तीर लक्ष्य पूरा करके एक का अनेक होता हुआ भी फिर एक का एक ही होकर तुणीर में ही वापस आ जाता था। है बहुत ही आश्चर्य। एक के अनेक हो जाता और फिर सिमटते सिमटते एक होकर स्वस्थान तक पहुँचना सब से असंभव सा लगता है।

परन्तु जब विचार किया तो हमें समस्त विश्व ऐसा ही कला कौशल करता हुआ : दिखाई दे रहा है। वृक्षों से बीज बीजों से वृक्ष एक के अनेक हो होकर फिर एक रूप। समुद्र से अनेकों बादल हो होकर सारी सृष्टि करके नदियाँ बहा कर हरियाली खोकर पैदाकर फिर समुद्र में आती हैं। पहाड़ों का खनिज उसी से निकल निकल कर वापस पहाड़ों में ही जा रहा है। नक्षत्रों की सृष्टियाँ प्रति ऋतु में बदल बदल कर यहाँ बिछा २ कर वापस वहीं हो जाती हैं। एक ही संकल्प अनेकों रूप धारण करता हुआ अनेकों को सहयोगी बनाता हुआ वापस आ जाता है।

देखिये। एक ही शरीर में आत्म रूप अपने एक ही संकल्प से प्रेरित यह कल्पना अनन्त प्राण तरंगों को उत्पन्न करती हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियों को संधारण करती हुई दस इन्द्रियों द्वारा बाहर जाने कितने पदार्थ, संबंधी, विचारों, देश, काल रूप हो हो कर भ्रमण करती हुई अन्त में अपने आप में सुषुप्ति समाधि मुर्च्छा या मृत्यु में लौट आती है।

एक ही ब्रह्म के एक ही संकल्प तीर से यह अनेक हुआ हुआ विराट जगत अब तक भी नष्ठ नहीं हो पा रहा है। परन्तु है यह अब भी उसी एक तीर पर आधारित एवं वही कल्प समाप्ति तक ब्रह्मा सहित सब को प्रलय में लौटाता २ अकेला ही अपने प्रकृति पुरुष रूप तूणीर में लौटा लेगा।

और यही वह संकल्प रूप तीर हर पदार्थ में एक को अनेक होने का भाव व शक्ति करता हुआ संचालक रूप में सर्वत्र स्थित है। तभी हर जगह एक एवं उस एक से अनेक दृष्टि गोचर होने लगता है। हर क्षण एवं कणा पर करोड़ों कार्य परमाणु भाव, विचार, कल्पनायें रूप आकार व आश्चर्य स्थित हैं। और इन सब में जो शान्त होकर आराम कर रहा है वह है आत्माराम। वही अपना आप है। अपने आपका यह कौतुक देखने पर जिधर तिधर अपनी ही महिमा स्पष्ट ज्ञात होती है।

सम्पूर्ण मर्यादाओं में (अवधियों में) यह अवध पति मर्यादा पुरुषोत्तम (सम्पूर्ण अष्ट पुरियों के पुर=शरीर में उत्तम) रूप से उसका शान्त दृष्टा नियन्ता स्थित है। राम का यह कौतुक अपने आत्माराम का ही है इसमें कोई संशय नहीं है जिस प्रकार सूर्य नारायण से निकली अनन्त किरणें अनेकों कार्य करके सायंकाल उन्हीं में लौटती हुई प्रतीत होती हैं यद्यपि वह तो उस समय भी उसी में एवं वही होती हैं तद्वत् राम का तीर रूप यह जगत भी जाता आता कहीं नहीं वहीं का वहीं है परन्तुगति मान सा भान हो रहा है। क्यों? क्योंकि चैतन्य रूप राम की सभा में, हुलास में है यह। छोड़ नहीं सकता इसे। न छूटेगा ही। क्योंकि राम से बाहर तो तीर कदापि जा ही नहीं सकता केवल भ्रान्ति में ही ऐसा लगता है।

●

अमन की स्थिति का अंदाज असंभव

●

"जिस मन का कोई भी वजन नहीं, उसी में सारे वजन हैं परन्तु ऐसा मन जिसमें नहीं सा हो उसकी स्थिति का अंदाज असंभव है।"

बड़े २ अवतार जो अपने योजना बन्द कार्य एवं उसके सम्पूर्ण क्षेत्र व प्राणी मात्र में सदैव केन्द्रित होते हुये; साधारण मानव की अपेक्षा कल्पनातीत चिन्तन, मनन, पुरुषार्थ करते हुये भी अल्प काल में ही इतने कार्य करके भी जो अथक उत्साही-गंभीर एवं निर्मान रहते हैं उनकी स्थिति किसी को भी अज्ञेय जो रहती है उसका कारण यही है

कि अपने २ कार्य का अभिमानी मजदूर मन एक निर्भार आत्मस्थित का अन्दाज लगा ही नही सकता।

आप कहेंगे कि वस्तुओं का अपना २ भार होता ही है। परन्तु आप यह भी देखते हैं कि किसी जगह ही बजन है सर्वत्र क्यों नहीं रहता? गाड़ियों का बोझ आपको क्यों नहीं है? जहाजों का बोझ क्रेन पर एवं क्रेन को स्निग्ध रखने वाले सूक्ष्म तत्वों पर क्यों नहीं है? तो सूक्ष्म समाओं में स्थूल, निर्भार ही तैरा करता है।

आप का यह शरीर यह अंगुली क्या वजन रखते हैं? परन्तु जरा सी कल्पना आते ही इसे उठना दौड़ना ही पड़ता है। और यही अंगुली जो छोटी सी है तर्जनी की जरा स्पर्श शक्ति में कुम्हड़े की बेल को अपनी विद्युत को सहन न कर नष्ट कर जाती है। इसी प्रकार मानस विज्ञानी में स्मरिज्म हिप्नोटिज्म के ज्ञाता अपनी मन की शक्ति शांति तरंगों से इस स्थूल शरीरों को या काठ, लोहा, पत्थर वृक्ष हो अपने प्रभावानुसार परिवर्तित करते हैं। भगवान कृष्ण की बांसुरी में गोपियाँ ही नहीं जमुना भी स्थिर हो जाती थी। इसमें वह बांसुरी और कुछ नही यहीं आत्म शक्ति थी जो मन व बांसुरी द्वारा जगत को स्पन्दित करती थी (अपने अनुकूल)।

जो सूक्ष्म हाता हैं उसे उससे स्यूल पदार्थ रोक नहीं सकते। जैसे देह प्राण; मन बुद्धि चित्त अहं व अपना आप उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। जल तेज वायु व आकाश इन प्रत्येक में एक के बाद वाला सूक्ष्म है एवं अपने पूर्ण वाले पर शासन रखता हुआ उसमें अनुप्रविष्ट रहता है। अतः मन के उत्पन्न किए ये स्थूल पंचभूत व तन्निर्मित देह (जड़-चेतन, समष्टि व्यष्टि) सब मन के ही अनुशासन में रहते हैं। मन सब में अपनी तरंगें एक साथ भेज सकता है—जब भी किसी एक पदार्थ उसके अंश या देश व काल से कुछ काम लेना होता है तो यह मन अपनी तरंगों को उन पर तथा उनके अलावा समस्त विश्व पर तरंगें व्याप्त करके जिनसे काम लेना है, उनको स्वाधीन तथा जो बाधक या साधक बन सकते हैं उनको रोकता या सहयोग देकर कार्य सिद्धि करता है। मन से यह कुछ भी बाहर नहीं हुआ। ये सारी तरंगें व जगत मन में ही है। अतः अपने में धारण किया हुआ जगत कैसे भी मोड़ा जा सकता है।

अब यह निश्चित है कि इस प्रकार की तरंगे पैदा करने का निर्णय व नियंत्रण बुद्धि का है तथा उस बुद्धि में फुरना ज्ञान व नियंत्रण चित्त का है तथा इन सब में अहंकी सत्ता तथा सहज शासन रहता है। इसी कारण जो जिसके पीछे हैं उतना ही सबल सूक्ष्म व व्यापक है। एवं सर्व व्यापक वह है जो अपना आप सब से पीछे सबको धारण करता हुआ सहज रहता है।

अतः इन सभी बाह्य जगत के वजन या भारों को सहज ही ढोने वाले मन की समा भी अपने आप तक पहुँचते २ नहीं सी हो जाती है। और इस प्रकार जहाँ मन ही अ-मन हो गया वहाँ अमन हीं रचै नहीं।

अमन है। वहाँ न शोक न हर्ष न कभी क्षय। जिन आत्मज्ञों को यह आत्मा-स्थिनि ज्ञान है जो उसी में स्थित हैं उनमें सब कुछ सहज स्थित है तथा वे तब भी निर्भर रहते हुये स्वरूप लक्षणों के आनन्द में अधिक गंभीर व मुक्त रहते हैं। जिनमें यह सारा विराट जगत आराम से रह कर व डूबकर भी जरा सी लहर नहीं आती उन नशा पीकर न बहकने वाले सन्तों की स्थिति के अंदाज का भी मानव बुद्धि के लिये सदैव 'अज्ञात' ही रहेगा।

शिव राम य कृष्ण के समय योगी तपस्वी सिद्ध कितने ही रहे परन्तु पूर्णत: उन्हें कोई नही जान पाये। अत: चित्त के साथ खेलने वाले ये सब चित्तातीत 'अचित' चैतन्य तक पहुँच ही नही सकते। चित्त ही जिन्हें खिला लेता है वे चित्तको कैसे खिलाया, थप-थपाया, सुलाया, व मिलाया जाता है यह कैसे जान सकते हैं ?

आवारा

आवारा अर्थात् जिसका कोई न हो, जो किसी को भी अपना न समझता हुआ जहाँ चाहे वहाँ रहे, जब चाहे वहाँ से चल दे और चाहे जितनी कोई उसकी देखभाल करे वह किसी का न हो। जिस तरह आवारा सौंड किसी एक खेत ग्राम दिशा व्यक्ति व स्वाद का गुलाम न रहकर आजादी से या उच्छृंखलता से दसों दिशाओं में जाता रहता है, उसे न तो कोई अकेला पाल ही सकता है न वह पलता है अरे ! पले तो वह आवारा ही क्यों कहा जायेगा ?

हमारे पास जो अभी आया है वह भी हमारा ही छोड़ा गया त्रिशूलों से (पीड़ित) चिन्हित जाने कब से आवारा हुआ है। धरती-आसमान में, नक्षत्र-तारागणों में, देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों, मानव-दानवों, पशुपक्षी, यक्ष-किन्नर, स्थावर-जंगम, देशों-कालों, स्वभावों, कल्पना-विचार, अवस्थाओं में, सब क्षेत्रों (खेतों उपाधियों) में चक्कर काटता हुआ भूल भी गया कि किसने इसे उत्पन्न किया था, आजाद किया था अथवा भोगी बनाया है ?

और हम भी इसके अस्थिर होने से, बिगड़ते अपने भवन के बारे में व्यथित चिन्तित होकर फिर जब से अपने घर में लौटाने की धुन व प्रयत्न में ज्यों-ज्यों लगे, जितने ही घेरे डोरे इसे घेरने के लिए डाले, उतना ही जंगली पशुओं के समान हमसे बिचकता, डरवाता, व डरता यह अबतक भागता ही जा रहा है। हम भी प्रण कर बैठे, कइयों का साथ सहयोग लिया (देव मंत्र-तंत्र या धनादि) परन्तु सभी क्षेत्रों को जिसने कई बार उजाड़ा हो, उसे भला कौन घिरवा सकता है जब हमको ही वह भूल गया तो औरों की बात ही क्या ?

हर क्षेत्र में (खेत में) कुछ-कुछ खाकर उन्हीं के लिए उनकी ही गौवों (कृषियों) द्वारा उनके लिए (इन्द्रियों को कायर) बल देने के कारण टैक्स के रूप में राजा के समान इसने जब खेतों में प्रवेश किया तो खेत के मालिकों क्षेत्रपालों उपाधियों के अभिमानियों ने इसे इसीलिये नहीं मिटाया, केवल थोड़ी देर के लिए भगा दिया बस ! और इन्हीं साधनों से जो इससे मिले हुए हों भला यह घिर सकता है ? कदापि नहीं।

अतः हमने फिर किसी का सहारा न कर इससे दोस्ती करने की ठानी। हर ओर हरियाली के बाग (सद विचार) जो इसकी खुराक थी रख दी तथा कामधेनुओं को वहाँ (ब्रह्म विद्या के मंत्रों को-श्रुतियों को) सर्वत्र रख दिया– धीरे-धीरे रोज ही इसके लिए

यह साधन स्वयं ही रखने लगे। अन्त में एक दिन यह परिचित होकर याद कर पाया कि मैं कौन हूं और यह कौन है। जिस समय पहचान हो गई—अनादि अभ्यास आजादी का होने के कारण कभी – यहाँ भी हूक सी उठ जाती इसे—परन्तु अन्त में इतना परिचित हुआ कि अन्यत्र अन्य खुराक, अन्य किसी से न लेना ही पसन्द किया। इस तरह यह अब गाय हो गया है बैल बना दिया गया है। कार्य करता है, हर क्षेत्र में जाता है परन्तु आसक्त अब अपने ही घर में है। किसी भी अन्य गौवों व खेल के मालों को देखकर जाता नहीं, देखता भी नहीं। सदैव इतना आसक्त हो गया है कि यह नहीं कह सकते कि हम इस पर या यह मुझ पर आसक्त है। एक हैं या दो। अब यह अमन पा गया है व मुझे भी अमन ही प्राप्त हो गया है। वही धीर सदा समर्थ मेरा यह आवारा साँड अब मेरा खास सखा हो गया है।

आप पूछेंगे वह कौन ? तो वह मेरा यह मन ही है जो अब अमन हो गया है। पहले यह धधकता हुआ आवा रहा है पर अब यह केवल मुझ पर ही आवारा है। कुरबान हो गया है। अब न यह आवारा है न मैं ही।

अपने गीत गाओ

अनन्त जन्म बीते दूसरों की तारीफ के पुल बाँधते, दूसरों की सेवा सुश्रूषा करते, सजाते सँवारते, पर अन्त तक यही अनुभव हुआ कि वे भी न रहे, न उनके स्वभाव सर्वथा अपने अनुकूल रहे।

कभी तनको मनाया। परन्तु यह ऐसा घोड़ा निकला कि सारी मेहनत करके दिन भर घास खोदते-खोदते हम परेशान रहे और अपने लादे घास का बंडल यही रात भर में खा जाता। और चढ़ने के समय भी यह कभी पूर्णतः ईमानदार न हुआ। सारी जिन्दगियाँ इसी की सेवा में बीतती। मालिक हम कहलाते परन्तु असल में यही बना रहा, मन को रिझाया, हर चोचले पूरे किये, हर देश काल में घुमाया, हर कपड़े (शरीर) पहनाये, हर ओर इसके झगड़ों रगडों में उलझे, अपमानित हुये हम; परन्तु फिर भी इसने कभी भी अपने उपकारक को भी न माना तो न माना। हर साधनों के द्वारा इसे रोकने

की कोशिशों में भी यही जीत जाता रहा जाने कहाँ से यह खुल जाता। इसने हमारे सुख को छीना ही, दिया नहीं।

बुद्धि की प्रसन्नता के लिये अपने ही अन्दर समस्त ज्ञान ग्रन्थ करोड़ों में ला लाकर इसके सामने रखा यह खुश तो होती परन्तु वेश्या के समान, किसी एक में—न यह प्रसन्न हुई न इसे कोई याद रहा। दुनिया के सम्पूर्ण प्रतिभाओं को सामने रखा, यह उनमें गई फिर भी कोई इसे पसन्द न आये और इतने पर भी यह हमारे को तनिक भी ऊंचा न उठा सकी।

चित्त की सेवा में तो लगे ही हुये हैं, इसका जाने कैसा अहम है कि यह अबतक माना ही नहीं। यद्यपि इसने यह अनुभव कर लिया कि सब जगह इसकी ही चालों का है। यह चले तो यह विश्व चलै। यह ठंडा हो, ठहरे; कि यह भी ठहरे। फिर भी यह हमें कभी उच्च मानने को तैयार न हुआ।

और यह हमारा अहं। इसको कितनी खुराक दी, कितनों के रूप दिखाये। हरभोग के भोगने पर भी यह वेहया अभी तक न तृप्त हुआ न इसकी अकड़ ही मिटी। इसे मिटाने की तो कुछ न सोचो कि कितनी कोशिशें की, परन्तु हमारी सब युक्तियाँ जान जाने के कारण हमारे पास रह रह कर मोटा हुआ परन्तु मरा नहीं।

देवताओं की और इन सिद्धियो की तो इतनी मिन्नतें कीं, किन्तु ये कभी भी झुकी ही नहीं, न जाने किस तत्व की वनी थीं ये। बहरहाल किसी ने हमारी इज्जत नहीं की। इन्हें यह लगा कि अच्छा नौकर मिला है जो इन्हें खिलाता भी रहे, इनसे दबता भी रहे।

तो एक दिन अपनी इस हालत को सोचते सोचते कोई एक मेरे जैसा पूर्व का भोगी आया और उसने मुझे बताया कि प्यारे ! मैं भी तेरे जैसा ही था। परन्तु मैंने यह युक्ति पाई कि इन्हें मनाने से नहीं ठुकराने से ये मानते हैं। तब से मैंने इनसे मुँह मोड़ा और इन्हें अब दिल से इसलिये नहीं चाहता कि कहीं फिर ये अकड़ न जाँय। और सच में बतायें कि इस प्रकार केवल टेढ़ी नजर इन पर मेरी रहती है। क्योंकि इन सबकी खुराक मेरे पास थी और अब मैं देता नहीं अतः दीन हो होकर मेरे पीछे—बिना मेरे चाहे भी—सब काम करते हैं—परन्तु जाते नहीं। मेरी मालिकियत को बताने वाला मुझे भी ऐसा ही कोई मुक्त भोगी मिला था। बोला—तुम भी अब यही युक्ति कर और इन हरामियों के नहीं, अपने गीत गा। "मैं कुछ कहता इतने में वह मस्त जाने कहाँ चल दिया। अब मैं यही युक्ति उपयोग में लेकर कितना खुश हूँ ? क्या कहूँ ? जिसे भी खुश होना हो वह अपने ही हाँ, अपने गीत गायें। क्या ? वही आत्मा सच्चिदानन्द मैं हूँ। शिवोऽहम ! शिवोऽहम। शिवोऽहम ! शिवोऽहम !!

हम आत्मपद में आकर अपने गीत गाकर मस्त होइये। अयोग्य शासक अपने अधिकार शक्ति व स्वरूप को न पहचान कर तथा अपनाकर मन्त्रियों व कर्मचारी

आश्रितों को मना कर अपनी तौहिनी दुर्दशा पद गवाँ देता है या त्रस्त होता है। यद्यपि उस समय भी सभी आश्रित उसे अपना हृदय से तो स्वामी ही समझते हुये यही चाहते हैं कि यह कहीं अपने स्वरूप की स्मृति में न आ जाय। परन्तु जो राजा कुशल होता है वह सभी को मान देता हुआ भो उनके ऊपर अपनी सत्ता रखते हुये उनसे यथायोग्य कार्य करवा कर अपने राज्य को सुव्यवस्थित संगठित रखता हुआ शान्ति देता तथा पाता है। तद्वत मैंने जब अपने स्वरूप को पहुँचाना तो अब ये सब पीछे पीछे आ रहे हैं क्योंकि आखिर था तो मैं ही पहले भी शासक नियन्ता इन सबका।

अपनी महिमा बिना समझे, अपने में बिना आये कोई व्यक्ति कुल परिवार देश, राष्ट्र विश्व या जीव सुखी स्वामी एवं शान्त नहीं हो सकता। अपनी संस्कृति, अपना मान अपना इतिहास व अपना अधिकार ही सबको स्वत्व की रक्षा करवाता हुआ मस्त करता है। अत अपने गीत गाओ! किसी ने कहा है—

घूम रहे ब्रह्माण्ड अनेकों कोटि कोटि दिनकर लेकर
उगल रहे हैं आग करोड़ों ज्वालागिरि जिसके भीतर
अनगिनत सागर प्रशान्त तूफानी जिसमें चक्कर खाते
रौद्र रू। घर वायु भयंकर रातों दिन चक्कर खाते।
ध्रुव सत्य यही बस वह हैं ऐ वीर केशरी, कर गर्जन
करदे दहाड़ वह सिंहनाद, हो नष्ट भ्रष्ट सारे बन्धन।
करदे गर्जन घोर शिवोहम्, नष्ट भ्रष्ट होवें तमतोम
ओम शिवोहम् परात्परोहम् निर्विकल्प सोहम् हरि ओम्॥

औरों को आदर दो, परन्तु अपनी महिमा से ही उनकी महिमा है यह समझते हुए अपने अर्थात् आत्मस्वरूप के गीत गाओ और मस्त रहो।

मैं अपनी मस्ती में आप बह गया, बे पेंदा का जहान खुद को बहा गया।
जब आया अपने होश में सबको बहा दिया, मैं आप रह गया सब आप हो गया॥

जिसके पास कुछ नहीं वही 'स्वामी'

⊙

अपने पास कोई कुछ भी तभी रखता है जब बाकी उसे अपना नहीं दीखता और इसी एक हृदय की कमी के कारण बाकी के विश्व को अपना बनाने की असफल धुन में इसी एक अल्पजीवी शरीर के आधारपर चिन्ताभय एवं दीनतायुक्त रहता है। देखा यह गया है कि वे जिनके पास लंगोटी भी नहीं रहती थी उन अपने आप में रमे अवधूतों के चरणों में वे भी जो चक्रवर्ती या देवाधिदेव इन्द्रादि या अवतार) कहाने वाले होते थे झुका करते थे।

आप वैसे भी देखिये की जो भी जितना हीं बड़ा पदाधिकारी या धनपति होता है अपने पास वह स्वयम अल्प-से-अल्प सामान ही लेता है। शायद शासन का अहं व ज्ञान ही उसके पासहोता है। बाकी उसकी विभूति को ढोने वाले अन्य होते हैं। कौन ? वे जो विभूतिवाले हैं वे उसके आधीन हैं जो इनसे विहीन हैं। बैंकें तथा उनके मैनेजर उनके आधीन हैं जिनका धन वहाँ रहता है।

जबतक सम्पाति का अधिकारी कौन है इसका विवेक नहीं होता तबतक स्वामी ही कंगाल के भेष में घूमा करता है, तथा तंग होता है। भोक्ता ही अधिकारी है अपने भोग का। अत: भोक्ता का अपने आप में विश्वास है ता भोग तो उसे छोड़ कर रह ही नहीं सकता क्योंकि भोग नहीं, भोक्ता चेतन है। भोग उसीने अपने लिये निर्माण किया है। अत: भोक्ता व भोग के इस विवेक वाले कदापि भोग के उपासक नहीं रहते।

यह सारा जगत आपके पूर्व संकल्पानुसार रचा हुआ है एवं आप चाहे जितने शरीर बदल कर चाहे जहाँ रहें आपका ही होने के कारण किसी अन्य के हाथ न आकर यह भोग आपको ही मिलेगा। अब यह बात और है कि उसे आप पसंद करें न करें, चाहें न चाहें, भोगें न भोगें, परन्तु है वह आपका। आपका स्वामित्व अब भी उस पर है यह वह जताता है। वासनाओं तथा विश्व पर आपका अधिकार है। किसी ने भी बीच में उस भोग को न मिटाया न छीना न घटाया न बढ़ाया न भोगा। कितना शासन था आप का सब पर व भोग पर अत: सर्वत्र आपका ही यह भोग रूप द्रव्य है। फिर क्यों चिन्ता किस से भय या दीनता ?

शरीर आप नहीं हैं। शरीर तो भोग है आपका। जिसकाल में इसे आप भोगते या त्यागते है वह भी आपका भोग है। क्यों कि आपको अबतक काल भी भोग नहीं पाया, वह स्वयं भागता रहता हैं आप अडिग हैं, अमर अविनाशी आत्मा।

जब सारा भोग मेरा ही है फिर लादूँ क्यों ? लादने वाले मजदूर हैं। बंगले ही इकट्टे करने की धुन में लगे रहते हैं जब सारा संसार मेरे ही बलपर है तो एक शरीर के लिये जिसे क्षणभर में छोड़जाना है क्या सम्हालूँ ? मेरे इस शरीर को समस्त विश्व के समस्त पदाधिकारी लाद रहे हैं। यह मेरा राज शाही (मानव तन) गौन है, पोषाक है। काल रूप हमारा नौकर इसे सम्भाले है जहाँ तक मुझे इसे पहनना है लादे रहता है। मुझे क्या चिन्ता है ?

मैंने इसीलिये सब को छुट्टा कर दिया है कि जिससे किसी को भी खेलने कूदने में अड़चन न हो न मुझे झंझट हो। सब अपने क्षेत्र में खेल रहे हैं। और ये सब दायरे में खेल करें साधन व खिलाडी मुझ में ही खेलते हैं, थकते हैं विश्राम पाते हैं विलीन हो होकर नवीन रूपों में प्रगट होकर गुजारा करते रहते हैं। मैं अब केवल अकेला रहता हूँ। मेरे पास मेरे सिवा अब कोई नहीं अतः न मुझे चिन्ता हैं किसी को सम्हालने की, न भय है अपने या किसी के मिटने का, न दीनता है किसी को मनाने की। मैं आत्मा हूँ सदैव अद्वय, अमृत, निश्चिन्त। सर्वाधार। इनकी चाह तक मुझे नहीं है।

मैं निर्वन्ध हूँ और जिधर देखता हूँ अब सब मेरे इस मस्ती के नग्न रूप पर आसक्त होकर भीख मांगने लगे हैं। मैं तनमनातीति असंग शुद्ध बुद्ध साक्षी आप ही आप हूं। सर्व विश्व का बेपरवाह नियन्ता शाहंशाह।

अतः जिसके पास अपने सिवा अपने पास कुछ नहीं जो 'मेरे' पना से ऊपर केवल 'मैं-मे' टिक गया है वही विश्व विजयी हुआ है। क्योंकि उसपर विश्व का प्रभाव नहीं रह गया। किसी विश्व के आकर्षण ने जिसे अपने में पहुंचने में रोक न पाया वह विश्व विजयी नहीं तो और कौन है ?

अपनी विभूति-कन्या को सौंपने के बाद जैसे पिता उसे लेने की चाह नहीं करता तद्वत सम्पूर्ण जगत् बुद्धि रूप कन्या को सौंपकर अचाह होकर मैं निर्द्वन्द हो गया।

मस्त मस्त को पहचाने- जो खुदमस्ती में मस्त हुआ।
वो अल्लाह तालाखुद ही है जो खुदई को पहचान गया ॥
उस पर जाते घरे बारे ये शम्स चाँद ऐशो-आराम।
जो 'कुछ न' चाह, खुद मैंडूबा उस पर जग यह कुरबान हुआ ॥
है उसकाही एहसान सभी पर अपना उतार एहसान गया।
दुनिया की छोड़ी शान सभी दुनिया से परे वो शान गया ॥

जीवन का आनन्द

⊙

सभी जीवन चाहते हैं और सभी जीवन का आनन्द चाहते हैं। पर किसी ने मना किया है लूटते हो ? अरे आनन्द ही इतना है कि ले ही कोई नहीं रहा है। सभी को दुःखी देखकर के आनन्द के जिज्ञासु के और हिस्से में आ सकता है वह। परन्तु चाहते हुये – होते हुये भी सब नहीं ले पाते ! आनन्द है नहीं यह तो कह नहीं सकते—नहीं तो कोई चाहते ही नहीं। हर कहीं हरकाल में हरेक के प्रयत्न से यही ज्ञात होता है कि आनन्द हर काल हर देश व हर व्यक्ति में रहा है। परन्तु किसी को लेने क्यों नहीं आता ? क्या आपको किसी दूसरे के आनन्द को देखकर ईर्ष्या या द्वेष होता है ? क्या आप उसके उस आनन्द के बाधक होना चाहते हैं ? किसी के अपने पुरुषार्थ से कमाये हुये आनन्द में आपको दखल देने का क्या अधिकार है ? हाँ, आप सहयोग दे सकते हैं और सहयोग देकर उसके आनन्द को देखकर प्रसन्न होकर उसके आनन्द का भागीदार हो सकते हैं। क्या आप किसी पर अपना इसलिये अधिकार करना चाहते हैं कि उसकी आजादी उसकी प्रसन्नता आपको अखरती हैं ? तब सच में आपको वहाँ क्या कहीं भी आनन्द न मिलेगा। अधिकार, अधिकार की रक्षा तो आनन्द देने के लिये होता है न कि छीनने, दबाने दुरूपयोग करने के लिये।

आपने देखा कि किसी पर अधिकार करने एवं किसी के विरोधी बनने की दोनों कुटिल भावनाओं से ही आप आनन्द को—जो आपमें ही सुरक्षित है – नहीं पा रहे हैं। देव, असुर, मानव, सभी अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न श्रेणियों में एक-से-एक प्रतिष्ठित होते हुये भी इन्हीं कारणों से दुखी हैं—असंतुष्ट हैं। मानव पद को देवता भी तरसते हैं, इतने उच्च पद पर है वह। परन्तु फिर भी मानव देवताओं के वैभवों को सुन, पढ़कर ईर्ष्या के मारे छीनने के प्रयत्न में अपना सुख भी खो रहा है। देवता भी मानव से अधिक सक्षम धनी हैं परन्तु मानव के ऊपर अधिकार की भावना व उससे ईर्ष्या के प्रभाव में वहाँ पहुंचकर भी असंतुष्ट हैं। असुर महावलवान दृढ़निश्चयी हैं परन्तु दूसरों पर हिरस की आग में, व अधिकार की दुराशा में, अपने प्राप्त विभूतियों का रस ले नहीं पाते। जैसे चोर अपनी स्थिति को न देखकर आसपास के वैभव सम्पन्न पर कुदृष्टि से जल-जलकर धन प्राप्त करने पर भी चिन्ता के भय से पीड़ित होता है सुखी नहीं।

इसी प्रकार ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त कोई भी हो, अपने से ऊँचे पर हिरस व अपने से नीचे वालों पर शासन की दुराशा से अविरोधी व जहाँ तहाँ असंतुष्ट है।

जो सबका अविरोधी है तथा सबके विभूति को देखकर अनुरूप है वही, केवल वही, आत्मस्थ अर्थात अपने चित्तको अपने में स्थित करके अपने आपके अमर आनन्द रूप का स्वाद लेता है।

और आप देखें कि निष्काम प्रेमी व प्रसन्न व्यक्ति कहाँ आदर नहीं पाता ? सर्वत्र पाता है। सन्त सर्वत्र आदर पाता है। क्योंकि सर्वत्र मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा आदि में ही रहता है। अर्थात् बराबरी वालों से मैत्री, दीनों पर करुणा, वैभव सम्पानों के लिए मुदिता (प्रसन्नता) व निन्दक आलोचकों के प्रति उपेक्षा करके मौन रहते हुए किसी की भी विभूति को छीनने या उसपर अधिकार करने या उसके विरोधी बनने की वृत्रि के ऊपर रहता है। अत: वह सबका प्यारा होता है तथा सब उन्हें प्यारे होते हैं। ऐसा करने के लिए सभी की विभूतियाँ उसकी ही होती हैं।

अधिकार मिले ठीक है परन्तु अधिकार की भावना लालसा न करें। सेवा करें। विरोध न करें। अविरोधी हृदय रखते हुए अपनी रक्षा करें। हृदय में किसी को विरोधी रूप में न बैठायें। हृदय को विरोधी हृदय कुरेदता रहेगा। आप सबके अन्तरात्मा हैं। सब आपके ही आत्मा हैं फिर किस पर शासन एवं किससे विरोध है ?

देखिये कि आप में इस प्रकार निर्विरोध भाव एवं अधिकार का अहम व लोभ जाते ही आपका आनन्द यहीं मुसकायेगा। और फिर आप यह भी देखेंगे कि सब पर आपका अधिकार भी हो गया है परन्तु अब यह अधिकार पद का नहीं, प्रेम का है।

●

विधवा का श्रृङ्गार

जिसका ध्यान केवल जीवन में भोगों के सिवा अन्यत्र नहीं है, परमात्मा आत्मा परमार्थ जिसके भोगों ने उसे नहीं सा, विस्मृत-सा करा दिया हैं तथा इसी कारण क्षण-स्थायी पदार्थों के आनन्द के लोभ में जो दु:ख में घिरकर सदैव विचार हीन (शक्ति बुद्धि हीन) होकर निराश एवं अकेली हो वह विधवा ही तो है। उसके उस अकेले जीवन का कब तक सुख है ? क्या प्रतिष्ठा है उस विधवा की एवं उसके उस शृंगार की जिसका पति न हो एवं फिर भी जो शृंगारों में ही आशक्त हो ? ऐसी विधवायें हजारों की तायदाद में आपको चहुँओर मिलेंगी जो अपना परमार्थ भूलकर केवल भोग एवं साज-सँवार में ही प्राप्त युवापन भी बूढ़ा कर रही होती हैं। शायद आप भी उन्ही में न हों-कहीं जाँच लें।

पति न हो जिसका उसका शृंगारिक सामान कब तक उसका होगा ? क्या वह शृंगार उसे प्रसन्नता देता है ? उसकी प्रसन्नता में है कोई मधुरता ? किसी की होकर

तो सादे रूप में भी उत्तम होती, परन्तु किसी की न होकर इन प्राप्त शृंगारों से भी वंचित होकर अनाथ यहाँ वहाँ कष्टों ही कष्टों में उसे जाना है। ये पदार्थ किसके हुए हैं ? ये तो उसे प्राप्त करने में जब तक वह न मिले जीवन चरितार्थ करने के लिए मिले थे। उसे प्राप्त करके इन्हें छोड़कर या उसे सौंपकर उसके साथही इन्हें उसकी इच्छानुसार भोगते हुये इनसे अनासक्त व उसमें आसक्त रहना ही श्रेय था।

विधवा का शृंगार तो उसके लिये काँटा है। न पहने तो दुःख पहने तो दुःख। किसी को दिखाओ तो दुःख, न दिखाओ तो दुःख। रात दिन सम्हाल कर चिन्ता करते हुए भी ये पदार्थ देह और दिल के बोझ हैं और बेईमान इतने कि साथ न जायेंगे।

जिसे अपने पति की प्राप्ति नहीं या जिसे पति का ज्ञान भी नहीं—सांसारिक धोखे बाज ये यार (ये पदार्थ) ही जिसे अपनी पत सम्हालने वाले पति समझ में आते हों उसकी दुर्दशा का क्या ठिकाना ? वह तो कहीं की न रही।

और ! ·······

एक वह विधवा है जिसने कभी इस भोग मय पदार्थों को ही पति माना था परन्तु सच्चे पति को जान पहचान कर तृप्त होकर जिसका पहला मिथ्या (गुड़ियों के पति के सदृश) पति मर चुका है व सत्य पति में विलीन हुई है उसका भी यह स्थूल भोग जो अब दृष्टि से उतार दिया गया है रखा है। परन्तु नजर से उतार कर (नजर उतार दी है जिसकी) अब वह उसको न तंग करता है न भार है।

जिसका भिन्न पति हो वह भी एक प्रकार से विधवा ही कहलाती है। क्योंकि भिन्न मान-मान कर ही तो सदैव वह दुःखी चिन्तित भयभीत व पराधीन रहती है। जिसका पति उससे अभिन्न है और इस प्रकार जो अमर सुहाग प्राप्त कर चुकी हो उसके शृंगार के आगे उसे अन्य में बाह्य शृंगार तृणवत जान पड़ते हैं। पर वह अब विधवा नहीं सच्ची सधवा हो गई है। पता नहीं चलता कि पति में वह है कि पति उसमें है ? वह पति है या पत्नी ? अभिन्नता हो गई है उसकी अब इस शृंगार संसार की क्या जरूरत है उसे ? पड़ा रहे या जाय। उसकी नजर से जो उतर गया उसकी कहीं खैर नहीं है। वह अब वही है जिसकी दृष्टि में ऐसे कितने शृंगार (संसार) बनते मिटते रहते हैं।

पूर्व में जिसका जगत ही पति हो वह भी विधवा है तथा ऐसा पति त्याग कर जगत पिता ही जिसका पति हो जगत नहीं वह भी मुक्त विधवा है। परन्तु इस बाद की विधवा को सुहागिन कहते हैं, वह मुक्त परमात्मा ही हो गई होती है।

यह वह बुद्धि ही है जो कभी जगत को तो कभी परमात्मा को पति मानकर कभी दुःख व कभी परमानन्द पाती है। पूर्व की जब तक ऐसी बुद्धि को कोई पाल रहे हैं तब तक किसी विधवा को ही पाल रहे हैं। और विधवा के संग से कौन प्रतिष्ठित सुखी व शान्त रहा है ?

आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान

⊙

कहने को आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान एक ही हैं क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है फिर भी थोड़ा भेद है। आत्मज्ञान से असंगता आती है तो ब्रह्मज्ञान से समता आती है। आत्मज्ञान से देह मनादि अपनी ही उपाधि से असंग अपने आपको हम जानकर इन सबके प्रारब्ध वश न होने वाले परिवर्तनों में निर्विक्षेप होते हैं तो सम्पूर्ण देहों में अपने जैसे— अपने आत्मरूपको देख समझकर समता सार्वात्म प्रेम शान्ति व आनन्द आता है। एक दुखनिवृत्ति करता है एक आनन्द देता है। एक दुर्बलता को अलग करता है (कि किसकी है) तो एक अपने ही सर्वाधार स्वरूप के दर्शन व परिपक्व अभ्यास से पूर्ण बल व निर्द्वन्दता लाता है।

देह मन प्राण इन्द्रियाँ बुद्धि चित्त से मैं अलग साक्षी सर्वद्रष्टा हूँ। यह हुआ विवेक द्वारा पृथक्करण कि यह असत्य है, द्रष्य है व मै द्रष्टा। अब अपने द्रष्टा स्वरूप की अन्य सबमें सर्वत्र (इनके सम्पूर्ण कार्य क्षेत्र में भी) समा जब देखी जाती है तो यह नानात्व स्वप्नवत् भिन्न-भिन्न दिखाई देता है। एक समय आता है कि यह भ्राँति भी नहीं रहती कि ये हैं, केवल मैं हूँ यही सत्य निष्ठा दृष्टापन रहता है। परन्तु इसको बोध कहते हैं। यह हुआ आत्मज्ञान व तन्निष्ठा। परन्तु मेरे जैसा मेरा ही स्वरूप सबका है यह होना अभी अत्यावश्यक है।

यह जैसे मैं अपने को देहमनातीत समझता हूँ वैसे ही सभी अपने-अपने उपाधियों के ज्ञाता अपने को मैं रूपसे साक्षी होते हैं ? इस प्रकार जब चिन्तन शुरू होता है मानसिक यह दृष्य-द्रष्टा को सिवा सर्वत्र जब कहीं नहीं रहता तभी एक विचार आता है कि फिर द्रष्टा कहीं हजार थोड़े ही होते हैं। एक ही द्रष्टा ज्ञाता चेतन के रूप में मैं ही सर्वत्र हूँ। अतः सभी शरीर मनादि मेरे हैं। मैं ही सबमें पसरा हुआ हूं। और धीरे-धीरे इसी चिन्तन में यह परिपक्व होता है कि और कुछ है ही नहीं, केवल मैं हूँ।

और तब अपने आप में अपने आपसे विशुद्ध प्रेम होकर रागद्वेष की जड़ खुद जाती है, समता प्रेम व शान्ति ही सर्वत्र छाकर आनन्द ही आनन्द रहता है। सोहम। अतः आवश्यक है कि आत्मबोध करके अपने आत्मरूपको ही सर्वत्र देखने की परिपक्वता करे। इसके बिना कभी-कभी यह बोध भी ढीला पड़ता-पड़ता नास्तिकता में परिवर्तितत्र होने लगता है। दुःख के थपेड़ों में दूसरों की शिकायतें करते-करते यह रूखा बोध फिर ऊबा देता है। पुरुषार्थ शून्य व्यक्तियों को इस बोध के प्राप्त करने पर प्रमाद भी होने लगता

है। परन्तु पूर्ण बोधवान इसी बोधनिष्ठा के बल पर विश्व में असंभव से कार्य करते हुए भी वर्तमान को सुधार कर आदर्श प्रस्तुत करते हुए इतिहास में नाम अंकित कर लेते हैं। इसे ही मस्ती कहते हैं।

यह अभ्यास है। ज्ञानाभ्यास। स्वरूपाभ्यास। ब्रह्माभ्यास।

ब्रह्मज्ञान श्रवण करना, कराना व चिन्तन करना ही ब्रह्माभ्यास हैं इसकी निष्ठा से ही ऋषियों की विचित्र-विचित्र जीवनियों में अनेकों राजाओं में व गृहस्थ नर नारियों में तथा विरक्त अवधूत सन्तों में लीलायें हुयी हैं। यह सब इसी ब्रह्माभ्यास का ही चमत्कार था।

अतः पहले आत्मज्ञान हो फिर ब्रह्माभ्यास से ब्रह्मत्व का वृहत् अहम जागे। वही धन्य है जो इस पद में आरूढ़ हो गया।

"कुलम् पवित्रम् जननी कृतार्थः बसुन्धरा पुण्यवती चतेन
अपार संच्चित् सुखसागरेस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणियस्य चेताः ।।"

अर्थात्, 'उसका कुल पवित्र हो गया। जननी धन्य-धन्य हो गई। उसकी वह धरती पुण्य क्षेत्र हो गई जिस महानुभाव का अपार अपने सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप में चित्त विलीन हो गया।"

मुर्दे का मौन

मुर्दे का मौन एक महान संकेत एक महान चुनौती एक कड़ा निमंत्रण है। यह भयंकर मौन बिना बोले सबको बुलवाता है बिना डाँटे चुप कराता है। बिना उपदेश किये रागद्वेष भुलाता है। बिना उपदेश किये विराग लाता है। बिना बोले सबको असंग करता है अपने जीवन को ऊँचवाता है।

यह वही ही है जिसने समस्त मानव को महान कवि विद्वान् लेखक एवं सन्त भेंट किये हैं। यह मृत है जिसे शंकर अपने ऊपर लादे उन्मत्त दशा में सर्वत्र घूमते रहे हैं। इसी की चिता में मस्त रहकर शिव 'भगवान' कहलाते हैं।

संसार की नश्वरता में भूले पाथिकों को हजारों उपदेश ग्रन्थ व डाँटे एक तरफ और मृत का दर्शन, मूक उपदेश एक तरफ, जो तुरन्त सही मार्ग का स्मरण करा देता

है। जीवनभर के तूफान जो कभी शान्त नहीं हुये इसे देखते ही शान्त हो जाते हैं। जीवन भर जिस दुश्मनी भाव से एक भयंकर खूनी स्वस्थ नहीं हुआ वह खून करने के तुरन्त बाद इसे देखते ही स्थिरता तथा द्वेपकी शान्ति पाकर, भागकर बचने व सचाई को ढूढ़ने को बाध्य होता है। जीवन भर लड़ते-झगड़ते दो साथी इस हालत में बरसों तक साथ एक स्थान पर रह लेते हैं।

'महान त्यागी यह मुर्दा घर द्वार, सखा सम्बन्धी, धन, पदार्थ, मान, पद, रूप, यश सबसे निर्मोह होकर; आग, पानी, पृथ्वो, वायु, आकाश सबसे निर्भय प्रेम करने चलने वाला जाने क्यों उन जीवन की आशा वालों को डरवाता है ?

जीवन भर पदार्थों के पीछे दीन हीन होकर कुवृत्तियों को धारण करने में धर्म, प्रभु, नीति किसी को न मानने वाले उन अपमानित व्यक्तियों को मुर्दा समझाता है—'देखो ! मेरे पास वस्त्र, अन्न, घृत, पैसा, काठ बाँस, घास, व्यक्ति, मान, नौकर, चाकर, सब बिना मंगाये ही हैं। दीनता से आसक्ति से ही सब आते हैं, यह कोई नियम नहीं। अचाह मस्ती से निर्विकारी व अभयदान देने वाले को सब कुछ मिलता ही रहता है। भोगी, जीवित भी, भोग पाता नहीं परंतु मैं देखो मृत कहलाता हुआ भी सब कुछ रखता हूँ। परन्तु देखो, मुझे ये भी कुछ नहीं चाहिये। मैं तो इसे भी लुटाने चला हूँ। आग, पानी, पत्थर वायु, पशु, पंछी, देवता देखो सब मुझे अपने ही दिखाई देते हैं। सब बुला रहे हैं।"

'मेरा दर्शन, मेरा, स्मरण, मेरा स्वप्न में भी स्मरण, तुम्हें डरवाता है! भोले! मैं डरवाने नहीं सचेत करने को आता हूँ कि निर्विकार रागद्वेषातीत बनो। निर्मोही उदार बनो। सब कुछ छोड़ना है शरीर भी। क्यों आसक्त होते हो जो तुम्हारे हाथ नहीं उस स्वांस की निवृत्ति के पूर्व ही क्यों नहीं अनासक्त होते ?" "भगवान शिव को और कोई मकान, या देश पसन्द न आये। वे ही जहाँ मैं रहता हूँ वहीं डेरा डाले बैठे हैं। तुम सबको जीते जी मैं इसे ही बार-बार दिखाता हूँ। कि तुम नहीं, मैं तुम्हें वहाँ ले जाता हूँ। वही हम सबका देश है। यह जहाँ अभी आसक्त हो, तुम्हारा देश नहीं है। मैं ही तुम्हें वहाँ ढोकर ले जाता हूँ तुम जाना नहीं चाहते वहाँ। मैं चाहता हूँ कि आँख खुली है तब तक उसे (मरघट को) अच्छी तरह देख लो, बाद में यह भी न देख पाओगे।"

"मेरा घर शान्ति निवास है। वहाँ जहाँ तुम अभी रहते हो, वह अशान्ति निवास हैं। वहाँ मरकर घटते हो, जलते हो, अन्दर-अन्दर, यहाँ जलकर मैं घटता हूँ परन्तु यहाँ मुझे अन्दर-बाहर कहीं भी जलन नहीं है। जलने कुढ़ने वाला निकल जाने के बाद अब जलाने वाला कौन है ? योंही (वह) निकल गया मुझे भी जिसने नंगा किया था। मैं किसी का विरोधी न पहले था न अब हूँ। व्यर्थ मुझे वह जलाता, पिटवाता रहा है। अच्छा हुआ दुष्ट को मेरा संग अधिक दिन नहीं मिलता।"

"तुम मेरी बात मान लो, निर्मान रहो, निर्भय निर्विकार व निर्मोह रहो। उदार बन कर सबको लुटाओ। यहाँ कोई अपना नहीं है न कुछ अपना है। मुझसे डरो मत मैं तो तुम्हारा हितैषी हूँ—जीने-मरने राग-त्याग में। देखो मुझे समाधि है आज मैं अपने में हूँ। सन्त भी, योगी भी अपनी आत्मस्थिति मेरे पास आ-आकर शान्ति से पा जाते हैं।"

"मैं तुम्हें कितनी बार समझाता हूँ परन्तु सुनता है मेरी कोई? जरूर सुनो। नहीं तो कहीं मुझे फिर एक बार तुम्हें साबित करने तुम्हारे घर (अपने किसी साथी को ले जाने) न आना पड़े। सारे तुम्हारे बोझ झट उलटने वाले मुझको सदा देखोगे। यों कहीं आसक्त न होते हुये बड़े-बड़े कार्य कर पाओगे। परमात्मा को भी पा सकोगे व नहीं तो तुम कहीं के न रहोगे। हम सरीखे तुम्हें हर समय घेरे ही रहेंगे। हो तुम शिव परन्तु शव ही रहे हो—मेरे संग से। मेरा संग न करो मेरा विचार लो और असंग रहो। पर सुने मेरी कोई तब न। ऐ चेतन! परमात्मा तू मुझे छोड़कर रह।"

"मैं तुम्हें बहुत बचाता रहा हूँ। सारी मार चोटें मैं सहकर तुम्हें अलग रखता रहा हूँ। परन्तु तुम मेरे से इतने चिपटे कि तुम्हीं अपने मान-मान कर व्याकुल हो रहे हो। ओ उदार आत्मन! फिर भी तुम्हें अलग कर आज जा रहा हूँ। तुम चेतन हो, चेतन ही रहो। अपनी व्यापक सर्वाधिकार मयी दयादृष्टि खोलो और सदैव—प्रसन्न रहो। अलविदा नमस्कार।"

कर्तव्यों का बोझ और अपनी शक्ति

सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक धार्मिक एवं व्यक्तिगत व समष्टि रूप से इतने कर्तव्यों का बोझ हर व्यक्ति पर है कि जिसके मारे सुख तो कोसों दूर रहा जीवन निभना दुष्कर हो गया है। ये सारे कर्तव्य जिनका अर्थ है 'करना ही चाहिये ऐसी आज्ञायें'- जिनके न करने से अव्यवस्था दुःख, बन्धन कलह एवं करने से शान्ति मानी जाती है!

पहले एक तो किसी को पूरा ज्ञान नहीं, है भी तो इतनी शक्ति, बुद्धि, सुविधा फुरसत व अनुकूल परिस्थिति नहीं। फिर सबसे आवश्यक है यह कि जिसके बलपर यह सब करना है वह शरीर कितनी सांसों का है इसका ज्ञान जो कभी निश्चित नहीं। यदि यह ज्ञान हो जाता तो उसके अनुसार उतनी देर में होने वाले कार्यों का ही निर्णय कर

लिया जाता। अब इधर तो इस मृत्यु का ध्यान और उधर निश्चित ऐसे कार्यक्रम जिनमें विधि विधान की जरा भी चूक होने से गणित' के समान उलटा परिणाम होने का भय।

सब की सेवा के लिए लगे नियमों में-कर्तव्यों-में सब में मिश्रित यह स्वतः का शरीर व मन भी मिश्रित है ही। अब यह ठीक न रहे तो इस पर आधारित कर्म जिनके पूर्ण होने में लाभ और लोभ का पहाड़ भी दिखाता है-फिसल जायेगा।

कर्म कितने हैं इसका अन्त नहीं। रागद्वेषादि एक-एक पहलवान जिन्हें हराने के लिये सारा ही संसार हार गया है, उन्हें भी मारना अर्थात् कन्ट्रोल में रखना है। मंत्र कितने हैं सात करोड़। और हर मन्त्र में विधि विधान और कहीं लाख तो कहीं करोड़ का जप। योग कितने ? राजयोग, हठयोग नाद–लय योग ध्यानयोग राजयोग, (आसन, प्राणायाम प्रत्याहार धारणा, ध्यान, समाधि) आदि अनेक योग जिन्हें एक जिन्दगी नहीं अनेक जिन्दगियों में भी पूर्ण होने की आशा नहीं उनके बिना मुक्ति नहीं, व्यावहारिक कार्य-सिद्धि नहीं-ऐसा वक्ता आचार्य कहते हैं। भक्ति में देवता कितने ? करोड़ों। एक-एक को खुश करना जान जोखिम में डालना है। लाभ की-ओर सिद्धियों, देवताओं को पाने वालों की महिमा जब सुनते हैं तो बड़ा लोभ और जोश हो आता है। परन्तु करने लगने पर अन्त का व फल का पता ही नहीं लिखा कि कब तक होगा ? ग्रन्थ, जिनके बिना इन साधनों की सिद्धि का ज्ञान नहीं होता कितने हैं ? करोड़ों। एक मत के नहीं अनेक मत के। सर्वज्ञ, कोई मिलता नहीं। कब मिलेगा ऐसा कोई पता नहीं। मिले को सिद्धि प्राप्त हुई है या नहीं इसका भी पता नहीं। शान्ति प्राप्त करना बहुत ही आवश्यक है। 'निर्दोष होना और परमात्मा में मिले बिना जीवन निरर्थक हैं' यह भी ऊपर से बम भरे हवाई जहाज की धमकी सी आज्ञा दिन रात पेरती रहती है। जीवन में अनेकों आवश्यकतायें जरूर ही होंगी जब कि सब के साथ कर्तव्य निभाना होगा। तो उनकी पूर्ति के लिए इन लोभ दिखाने वाली उपरोक्त सिद्धियों का लोभ अवश्य ही होगा। तन्त्र इतने हैं कि उनकी करामातें पढ़कर उत्सुकता बढ़ती है परन्तु करने के विधान जब देखते हैं तो नानी मर जाती है। यह सब करना है परन्तु समय कितना है जहां सोचा कि एक दस पंदर हो जाता है।

एक अघोरी सिद्ध से पूछा "महाराज, इस करामात को जो कि खून बरसाना, हड्डियां गिराना, चीजें इकट्ठी कर लेना-चाहे जहाँ की हों-आदि-आदि आपने किस ढंग से पाया और आपको इससे लाभ क्या ?" उसने कहा 'सिद्धि का लाभ मुझे क्या, लोगों को होता है, मैं तो इससे कुछ भी लाभ ले ही नहीं सकता। और महाराज छः महीना मल और मूत्र तल-तल कर खाया है तब यह सिद्धि मिली।" मैंने कहा —महाराज मानव को सुअर बना देने वाली यह सिद्धि मुझे नहीं चाहिये। जो आपके काम में भी न आये और आपको गन्दी चीजें खिलाकर समय को बर्बाद कराते हुए आपको मान के काँटे पर झुलाती

रहे। इसी प्रकार एक बाल के देने वाले एक सिद्ध की कथा है। प्रसन्न होकर उसने एक भक्त कुम्हार को शरीर का ऐक बाल २० साल की सेवा के बाद देकर कहा जा इसे कुम्हड़ा बोकर गाड़ दे। अनन्त हो जायेंगे। वेंचकर घन कमा लेना।" कुम्हार उस वर्ष बहुत कुम्हड़े पाया। वेंच कर धन भी खूब पाया। धीरे-धीरे सारे गांव में यह समाचार फैला। और एकदिन सब ग्रामवासी साधु के पास आकर कहने लगे, 'प्रभु, हमें भी एक दे दो।" उसने पूछा क्या ? सबने कहा 'महाराज वही धनी बनाने वाली युक्ति।' साधु ने उन्हें दुतकारा। सबने सलाह की कि यदि बाल ही से सब होता है तो वह न दे हम ही लोग ले लें। बस क्या था, सब जुट पड़े। अरे, अरे कहते-कहते भी सारे शरीर के बाल लेकर जैनियों के मुण्डन के सदृश करके सब साधु को खूना-खून करते हुए छोड़कर चले गये। साधु बिलबिलाता रहा! सबने बोये। कुछ भी नहीं हुआ।

इस प्रकार सिद्धियों का उपयोग तो दूसरों के लिये होता है। समय व्यर्थ जाता हैं। इन देवताओं को प्रसन्न करने में घर के देवता रूठ जाते हैं। घर के देवताओं के जो दिनरात सेवा पाते हैं उन्हें तो प्रसन्न कर नहीं पाते तो जो सामने न हों, जिनका-कहां रहते हैं यह पता न हो-और जो कभी पहले हो गये होते हैं-अर्थात् मरे हैं उन्हें प्रसन्न करना कितना मुश्किल है या कितनी मूर्खता ? यदि पूव के मरों की पूजा या प्रसन्नता करके उन्हें जिलाना या ऐसे ही देखना जो अभी सामने हैं फिर भी इनपर प्रसन्न और सन्तुष्ट न हों तो किया क्या ? यदि जिन्दों से प्रेम नहीं और मरों या भूत काल वालों से ही प्रेम हो तो जिन्दों को सबको मारकर प्रसन्नता प्राप्त कर ली जा सकेगी। परन्तु यह, सारा ही कर्तव्यों के बोझों का प्रताप है जो व्यक्ति समय बर्बाद कर सन्तुष्ट नहीं हो रहा है। करना तो है ही, फिर कैसे करें ? हमारे पास है क्या जिसके बलपर सन्तों अन्य कवियों के ये कर्तव्य पूरे हम कर सकते हैं। वे झूठ तो कह नहीं सकते। हम देखेंगे।

तो गंगोत्री से गंगासागर तक फैली गंगा को लम्बाई में तो जीवन भर में तैरते हुये पार करना कठिन ही नहीं, असम्भव है। परन्तु किसी एक जगह से गंगा की चौड़ाई को पार करना भी गंगा पार ही कहलायेगा। इस प्रकार विश्व में विश्व के किसी भी एक क्षेत्र को यदि ठीक सम्हाल लेते हैं तो हम मानो विश्व की ही सेवा कर सकते हैं। एक शरीर से सब होना असम्भव है, अनावश्यक है इसी कारण कर्तव्य व सेवा भी बँट गई हैं। बुद्धि, शक्ति व प्रकार भी बँट गये। हमें भी यही देखना है कि हम किस तरह अपने द्वारा सब में रह सकते हैं चाहे अल्पायु हो या दीर्घायु।

तो पहले देखना होगा कि हमारे पास है क्या क्या ? हमारे पास हमारा शरीर, इन्द्रियां, प्राण, मन, बुद्धि, और खास हम इतने हैं। अब अपने इन साथियों को ठीक रखते हुये हमें विश्व विराट् में उसी प्रकार सहयोग देते बनेगा जिस प्रकार अपना कमरा साफ रखकर शहर भर की सफाई में सहयोग देना। अपने स्वास्थ्य को ठीक रखते हुये

विश्व के स्वास्थ्य को ठीक रखना । क्यों कि स्व में पर निहित है । इस तरह हम सारे विश्व के साथ कैसे सहयोग से मिल सकते हैं यह देखेंगे । शरीर से हम सारे गरीबों की, अनाथों की, अपाहिजों या दुखियों की सेवा करना चाहें भी-हमें अपार दया उमड़ पड़े तो असम्भव है । नहीं-नहीं अधिक हठ करें तो हम ही सेवा लेने के अधिकारी दूसरे दिन बन सकते हैं । अधिक दया से दानी बने तो हमें ही भीख मांगने की नौबत आ सकती है । तो क्या करें ? हम शरीर के साथ-साथ इन्द्रियों की सहायता लेंगे उनमें सूक्ष्म होने के नाते अधिक व्यापकता और कार्य शक्ति है । अर्थात् हाथ से दस व्यक्ति की सेवा करेंगे तो वाणी व नेत्रों से लाखों करोड़ों का मार्ग दर्शन करके सेवा कर सकते हैं परन्तु इन ज्ञान इन्द्रियों में इनका अधिक बल नहीं है । अधिक जो इन्होंने लिया वह मन से । मन को सूक्ष्म होने के नाते अधिक व्यापक होकर सोचने की शक्ति है । वह अन्तर में उत्पन्न कर अपनी भावना को यदि हाथों के द्वारा लिख कर रखे तो लाखों वर्षों के लिये करोड़ों की सेवा कर सकेगा । अथवा आकाश मंडल में शुद्ध भाव की तरंगों को फेंक दे तो एक साथ सब के साथ रेडियो के अनुसार सहयोगी बन सकती हैं । परन्तु इस भावना की तरंगों के लिये प्राण को तरंगों का सहयोग लिया ही जाना चाहिये । क्योंकि योगविज्ञान कहता है कि सर्वत्र प्राण ही सर्व रूपों में शासक है । प्राण शक्ति का अनुभव करके योगी एक ही शरीर में होता हुआ हजारों कार्य कर सकता है । सत्संग और योग–प्राण का अभ्यास–माने आलसी नहीं–परम पुरुषार्थी (सहज) बनने की युक्तियाँ समझना ।

इसके लिये हमें एक और बात है कि विचार शक्ति अर्थात् बुद्धि का निर्णय हर समय लेना ही होगा । क्योंकि बुद्धि की सीमा के बाहर विश्व नहीं है । जितना भी जो है वह विश्व का स्वरूप बुद्धि का ही प्रतिरूप है जो ज्ञान विचारमय ही है । अतः बुद्धि जहाँ तक है तहाँ तक अपने विचारों को मन की भावनाओं के साथ प्राण शक्ति के संयोग से हम इन्द्रियों के द्वारा यदि फैलावें या बिना इन्द्रियों के भी भावना से ही फैलावें तो यह भले ही चर्मचक्षु के द्वारा न प्रतीत हो परन्तु इनका प्रभाव कितना है यह या तो अध्यात्म विज्ञान वाले या योग-विज्ञान वाले देखते हैं अथवा भौतिक दृष्टि से वैज्ञानिक स्वीकार करके अनुभव में लाकर देख सकते हैं ।

रहे हम ! हम बुद्धि की पहुँच का और अकर्तापन का फेल होने का-अर्थात् सोचने का शक्ति या न सोचने की अवस्था का भी अनुभव करते हैं । अर्थात् बुद्धि की सीमा से अधिक सीमा हमारी है । अतएव यह निर्णय हुआ कि हमारे साक्षी ज्ञाता स्वरूप से कोई व्यापक अधिक नहीं है अथवा यों कह दें कि पूर्ण व्यापक हमारा स्वरूप है । यदि हमारे शरीर, मन, प्राण बुद्धि व निजरूप का सम्बन्ध सारे विश्व से होता तो सेवा, सहयोग, प्रेम का कोई प्रश्न ही न होता । और यदि हमारी शक्ति सर्वत्र न हो सकती होतो तो

सारे विश्व के साथ हमारे कर्तव्यों का जिक्र ही न होता। परन्तु यह तथ्य है कि हमारे शरीर इन्द्रिय बुद्धि और मन को अन्य विश्व का प्रत्यक्ष न भी हो सके फिर भी हमसे (साक्षी ज्ञाता) कोई भी भिन्न नहीं है। इसीलिये हम पर शरीर, कुटुम्ब, समाज, देश, विश्व, लौकिक, पारलौकिक, व्यक्ताव्यक्त, संसार के लिये कुछ न कुछ कर्तव्य लगा देने की हिम्मत हुई है। यद्यपि शरीर दृष्टि से (टाइम का) सेकण्ड बहुत ही अल्प है फिर भी काल को उससे भिन्न होने की शक्ति नहीं है। और काल में व्यवहार के लिये ही कल्पित हिज्जों की कल्पना हुई है—काल तो सब में अखण्ड ही रहता हैं। तद्वत् सम्पूर्ण शरीर में, मन में, बुद्धियों में एक ही जो ज्ञानस्वरूप है वही आप हम सबका स्वरूप है। अतः सबके लिये प्रेम का मतलब, सबके वास्तविक स्वरूप की दृष्टि से एकत्व के नाते हम सबका प्रेम हो सकता है। इसी से होना चाहिये यह कर्तव्य बन्धन कर सके। इसका अर्थ एक फार्मूला समझलें। जो जितना होता है उससे कम सोच सकता है। तो करने की अपेक्षा क्रमशः लिखना, बोलना, भावना करना सोचना, और सोचनेवाला, अधिक व्यापक, सूक्ष्म, शक्तिमान है। अब इस नियम के अनुसार हम शरीर के द्वारा कितना कर सकते हैं ? पाँच हिस्सा कम, परन्तु बोलकर ज्यादा, भावना से और अधिक सोचकर और ज्यादा एवं अपने आपका चिन्तन कर अपने आपकी व्यापकता का चिन्तन कर सर्वत्र यही भाव फैला दें तो हम एक शरीर की दृष्टि से भी सारे विश्व की सेवा करते हुये अपने आप को पायेंगे।

यही ज्ञानियों की अनुभूत्यात्मक दृष्टि है जिसको तौलने के लिये आज के वैज्ञानिक-भौतिक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति—जो शरीर के द्वारा ही सब कुछ का तोल मापने के अभ्यासी हैं असफल—(ही) रहेंगे। वे इसको न माप पायेंगे न इसकी मधुरता ही चख पायेंगे। इसमें सारे विश्व की सेवा निहित है। स्वरूप का चिन्तन करके समत्वभाव यदि बुद्धि में आ गया, अपने आपको ही सर्वत्र समझकर प्रबल भावना फैलाई गयी तो इन्द्रियों के द्वारा सद्गुण स्वाभाविक ही प्रदर्शित होंगे। और शरीर जितना कर सकता है उतना करते हुए भी स्वतः निर्दोषी चित्त होने के कारण—स्वस्थ प्रसन्न होकर, दीर्घायु या अल्पायु हो—कृतकृत्य होकर व्यष्टि समष्टि, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी कर्तव्यों में रहते हुए भी मुक्ति का आस्वादन कोई भी लेता रहेगा।

तत्त्वज्ञों ने स्वरूपानुभूति पर जो जोर दिया इसका कारण केवल छोटे-छोटे कर्मों की सुचारु रूप से सिद्धि हो, यही था। आप कहेंगे कैसे ? यदि अपनी शक्ति का परिचय न हो और इतने सम्पूर्ण कर्तव्यों का ज्ञान करा दिया जाय तो केवल सोच-सोच कर व्यथापूर्ण जीवन होगा। परन्तु यदि शक्ति की महानता का अनुभव हो गया तो यह एक शरीर के द्वारा किये जाने वाले कार्य बड़ी सहजरूपता से किये जा सकेंगे। जैसे पूरे इलेक्ट्रिक शक्ति के द्वारा एक छोटे से पुर्जे या मशीन को चलाना सरल होता

है। इसी कारण अपनी पूर्ण शक्ति का परिचय कराना प्रथम आवश्यक है। जो जितना अभिन्न—पास रहता है उसे ही चाहे जितने अल्प समय में भी जाना जा सकता है। अतः इस अल्पायु वाले शरीर में अपने आप साक्षी चैतन्य अमर अखण्ड और पूर्ण स्वरूप को जानकर सब कुछ किया जा सकता है, जो कि शीघ्र होता है। व अति आवश्यक है।

साक्षी आकाश से भी सूक्ष्म है अतः अखण्ड और व्यापक है। इतनी व्यापक शक्ति का विचार—स्मृतियों और चाहे जिस कार्य के लिये इन शरीरादि से सम्बन्धित करके करा लो। हनुमान को शक्ति दी नहीं—स्मृति कराई गई। और स्मृति होते हो वह सब कुछ कर गया। आपको भी स्मृति ही चाहिये। शरीर के हर जर्रे-जर्रे में, मन के हर स्पन्दन में, प्राण के हर तरंग में, बुद्धि के हर विचार में, शरीर की हर क्रिया में आप सदा साक्षी असंग, चैतन्य, पूर्ण और सुरक्षित रहते हुए अमर रहते हो। और जैसे यहाँ हो वैसे ही सर्वत्र हो। केवल विश्वास अपने आपका नहीं रहा। अतः विश्वास भी यह समझते ही जाग जायेगा। और फिर शरीर के हर क्षेत्र में आप सदा सफल रहेंगे। समाजादि सब की सेवा कर सकेंगे। और यह शरीर रहे या न रहे आप निश्चिन्त, अभय और मुक्त ही अपने को अनुभव करते रहेंगे। बस यही करना सब सब कुछ करना है। एक हो 'साधे सब सधे।' 'एकेन ज्ञातेन सर्वं विज्ञानम् भवति,' सर्वास्कामानाप्नोति; ब्रह्मैव भवति।

●

'मस्त'

⊙

उस मस्त ने जिसने यह मस्त दुनिया सर्वत्र बिखेर दी है, सर्वत्र मस्ती भी बिखरादी है। इसी कारण इसमें भी सर्वत्र मस्त ही मस्त दिखाई देते हैं। इन सम्पूर्ण रूपों में वही मस्त दृष्टिगोचर हो रहा है। किसी के पास इसने कोई भी पूर्ण विभाग नहीं दिया। और इतनी मस्ती में आया कि खुद को भी भूल गया।

ये देखो एक मस्त है कि जो हर प्रकार की सृष्टि बनाने में ही लगा है, रहेगी या नहीं, इससे बेपरवाह है। कितनी अब तक पैदा होकर मिट गई इसे कोई चिन्ता नहीं। आलस में लड़ें, कटें, पिटें दुःखित हों, इसे इसको देखने की न फुरसत न आवश्यकता जैसे यह उसका ठेका नहीं है।

और यह देखो दूसरा मस्त जो खुद के नहीं दूसरे के पैदा किये हुये बच्चों को ही पालने में लगा हुआ है खुद इसे एक भी सन्तान नहीं है। यह दुष्ट सृष्ट जड़ चेतन सभी को पालने में लगा हुआ है इसका एक नाम पालक भी है जो पालक के (साग के) समान सबको पालक ही रहता है।

और यह तीसरा मस्त जो किसी के पैदा किये व पाले कोई क्यों न हो उन्हें मिटाने संहार करने में ही लगा हुआ है। न इसे पैदा करना है न पालना है। मिटाना है। अच्छा बुरा, ऊँच-नीच, देव-दानव, मानव, पशु-पक्षी, यक्ष-राक्षस, सूर्य-चन्द्र कोई हो, यह सबको मिटाने में लगा हुआ है। अपने घर काइस का बुराहाल है न पहनने को वस्त्र न बच्चों में ढ़ंग, न वाहन ठीक, न पात्र। परन्तु दूसरों को ही मिटाने में लगा अपना क्या देखेगा ? और ये देखो विभिन्न मस्तों की भीड़ जिसमें कोई भी किसी में न रमकर अपनी ही कल्पना मूर्ति में लगा हुआ है। अपने लत की इन्द्रियों की परवाह नहीं कि उनका क्या हो रहा है, होगा भी कि नहीं। कितने ही भोगों के पीछे हजारों शरीर रूपी आम चूस डाले हैं इन्होंने। न बँधन की न मोक्ष की न अपनी व पराये की सुध, केवल अपने भोगों द्वारा अपने तनको विनष्ट करने में लगे हुये हैं।

और इधर की भीड़ देखो। जंगलों में घर-द्वार छोड़, मस्ती रमाये, भूखे प्यासे रहते जो अभिन्न व खुद हैं उसे ही भिन्न मानकर झाँकने में, पकड़ने में, लगे हुए हैं और दूसरे पर दोष डालते हुये अपने को निर्दोष मान रहे हैं।

और इन्हें भी देखो कि जो न उबते व्याकुल होते हुए अपने प्रभु को आप ही अपने में कैद करके पुकारें लगाकर, परेशान से, ढूढ़ने का बहाना करके आपको छुपा रहे हैं, जो छुप नहीं पाते। सर्वस्वर्पण करने की धुन में रोज जो कितने ही बार 'सर्वस्व तेरा' यह कहकर भी तृप्त न होकर गुप्तरूप से उसे भी सर्वस्वार्पण कराने की ताक में हैं। और इन्हें भी देखो जो उपदेश काव्य कलाओं की धूम मचाकर उसे मिलाने की ठेंकेदारी के रूप में हजारों की भीड़ जमाकर के गुरू व पूज्य बन गये हैं परन्तु अन्तर में खुद 'नहीं मिले कापूर्ण विस्वास व दुःख छुपाये हुये हैं, परन्तु ऊपरसे मस्त हैं।

और इन्हें भी देखो जो हजारों बार अपने तन को चोच दाँत आग पानी के पेटों में पचपचाकर अब तक उन तनों को फिर से प्राप्त करने की धुन में हैं तथा फिर भी हर बार की मौत से सटककर मिटाने वाले की मजाक करते हुये घूम रहे हैं। और इन्हें भी देखो जो याद करने व सम्मानित होने की प्यास में हजारों ग्रन्थों के ढेर में अपने को छुपाये हुये अपनी बुद्धि में जबरन ठूसना चाहते हैं बार-बार भूल जाने को देखकर भी एवं आगे काम आयेगा या नहीं पर बिना सोचे ही लगे पड़े हैं।

इन्हें देखो जो कितने पोथे तो लिख चुके हैं कोई पढ़ेगा या नहीं, कीमत पायेगा या नहीं, यह बिना सोचे ही पहले से लिखी देखी, जगत की इस ज्ञात सपने को वद्ध

करके फूले नहीं समाते। और इन्हें देखो जो भोगों को अपने में छुपाये हुये परन्तु जाने कितनों के भोग बुद्धि को छुड़ाने का दम भरते हुये घूम रहे हैं। और इन्हें भी देखो जो कितने भी उपदेश, सुनने व ग्रन्थ पढ़ने साधन करने पर भी जहाँ के तहाँ सबको फेल कर चुके हैं जरा भी आगे न बढ़ सके व्रत तीर्थ दान धर्म भजन देवता सन्त ग्रन्थ उपदेश सब जिनके सामने फेल हो गये हैं और सब पर निराशा की छाप लगाते हुये जो अपनी ही धुन में है।

और इन्हें भी देखो जो किसी उपदेश धर्म सन्त के चक्कर में ही आना पसन्द नहीं करते और रोने पीटने लड़ने झगड़ने में ही मस्त हैं और इन्हें भी देखो जो न किसी से लेने में न देने में, न परमार्थ में न व्यवहार में हैं; तटस्थ हैं। न स्वरूप ज्ञानी हैं न ज्ञानेच्छु हैं न धार्मिक हैं न नास्तिक न किसी के इच्छुक। इससे सभी हारे हैं। और ये भी देखो जो अनन्तदिव्य भोगों को वरसों भोगकर भी असन्तुष्ट हुये रोते बिलखते हुये नीचे आ रहे हैं।

और इन्हें देखो जो अपने कर्मों के फल भोगने जबरन स्वार्गादि देवताओं के स्वागत से ले जाने में भी अनासक्त है और इन्हें भी देखो जो कर्म तो कर चुके परन्तु उनका दुष्ट फल पाने के लिये घसीटे ले जाते इन यमदूतों से घबराते परन्तु रोते रोते जा रहे हैं।

और इन्हें भी देखो जो सब अपनी पूर्ण करनी से छके होने से अपने में लौटे एवं विश्राम करते हुये स्वात्मस्थ हैं तथा अब हजारों भोगों देवताओं लोकों व मनुष्यों के द्वारा उकसाये जाने पर भी तटस्थ हैं।

और इन्हें भी देखो जो अपनी मस्ती को भी पी चुके हैं जिन्हें न यह कहा जा सकता कि मस्त हैं या चंचल। जिनके दर्शन से मस्ती मिलती है। जिनकी मस्ती में ही समस्त भोग व आकर्षण छूटते हैं जिनकी क्षणिक मुस्कराहट से भूली, पूर्व स्मृति लौटती हैं। अपनी अब तक की फजीहत याद आकर सबको पूर्व का अपना मस्त निर्विकार आनन्द चेतन सत्य स्वरूप स्मृत हो उठता है। जिनके पास पहुँचकर पहुंचने वाला आना जाना खत्म करके वही हो जाता है जहाँ पहुंचकर आना जाना व क्षय का स्मरण भी भूल जाता है। जहां समस्त आने जाने वाले क्षणों में आवागमन से रहित अक्षय अपना आप ही दिखाई देता है। यही है वह मस्त है जिसने ही यह समस्त मस्ती भरा अकल रचा है परंतु अब वही स्मृति में स्थित हो गया है। यही वह है जो इन सभी मस्ती के रूपों में क्रीडा करता रहा है। जिसे ज्ञान ध्यान कर्म समाधि भोग मोक्ष किसी की परवाह नहीं रही जो अपनी परवाह में सदा रहा है वही यह है। वही है यह जो यही जनाता है कि वही है यह जो सर्वरूपों में है। और शान्ति शान्ति शान्ति शिवोहम। मैंने अपना खेल समेट लिया है। केवल आप ही रह गया हूँ। जब कुछ हुआ था तब मैं था जब नहीं था तब मैं था और अब जब कुछ नहीं है तब भी मैं ही हूँ। क्यों कैसी मस्ती हैं यह ?

⊙

मुक्त

मुक्त की पहचान 'तृप्ति' । जो सभी से तृप्त है, किसी ओर जिसकी आखें किसी को छीनने झपटने, रस लेने या घृणा करने की न रह जायें; वही मुक्त है । अनन्तकाल के अपने समस्त भोग एवं भोग वृत्रियों से भी घृणा न करता हुआ भी जो अब ढंका हुआ है इनके रससे नहीं—निज रससे वही मुक्त है । सब में अपने ही आनन्द को — अपने ही रस को—देखकर स्वानन्द का पान जो बिना इन्द्रियों के, बिना भोग पदार्थों के भी लेता हुआ तृप्त है वह मुक्त है ।

रागद्वेषादि समस्त वृत्रियों को त्याग कर नहीं सबको अपना अविरोधी समझकर जो किसी से न राग करता है न द्वेष वह 'तृप्त है । तृप्त की आँखें पालक होती हैं । जो सबका पालक हो वही तृप्त है ।

अविरोधी होने से सब जिसे अपना समझते हैं— ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जो सबके लिए अपना लगे वही मुक्त है । जिसे अन्य कोई देखने पर भी उद्विग्नता न हो एवं जिसे देखकर किसी को भी भय, चिन्ता व ग्लानि न हो वही मुक्त है । हर्ष भय शोक उद्वेग से जो परे है; वह मुक्त है ।

'सब करने के बाद यह समझ कर कि सर्व कर्त्ता धर्त्ता मैं ही हूँ — था व रहूँगा तब मैं अब क्या करूँ या क्या न करूँ क्योंकि मुझे चेतन की सत्ता में ही सब स्वाभाविक तथा चेतन है तो अब पृथक क्या करूँ ?" मुझे यही निश्चय करना है ।

सम्पूर्ण उत्साह स्फूर्ति ज्ञान के रहते भी ऊपर से जो अकर्ता है वही तृप्त है । कर्तव्यों का यथावत् आचरण करता हुआ भी जो कुछ नहीं करता हुआ समझता — वही मुक्त है ।

देह इन्द्रियाँ प्राण मन बुद्धि चित्त अहंकार आदि सबमें मुक्त रहकर बिना डाँटे भी जिसके ये सब समझदारी से अनासक्त व कर्तव्य परायण रहें वही मुक्त है । जो किसी का भी घातक नहीं, दया का सागर है शरीर भी जो केवल कल्याण के लिए ही रखे हुये हों वे ही मुक्त हैं । वे आप्त काम हैं, पूर्ण काम हैं, आराम हैं, राम हैं ।

जो सदा अपने शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म स्वरूप की निष्ठा में अपनी बुद्धि को तृप्त कर चुका हैं एवं इस प्रकार परिपूर्ण ब्रह्म ही चलता फिरता लोक दृष्टि में स्थित है वह तृप्त ही मुक्त हैं । पृथ्वी पर उसका दर्शन ब्रह्मदर्शन उसकी सेवा ही ईश सेवा हैं । उसकी चर्चा ब्रह्मचर्या व उसका आशीर्वाद ईश्वराशीर्वाद है । उसकी शरण ईश शरण है । वहाँ द्वैत नहीं है । वे धन्य हैं जो ऐसी स्थिति प्राप्त कर चुके हैं वे भी धन्य है जो इन्हें पाकर इनमें समा गये ।

सृष्टि की उत्पत्ति व सृष्टि का समस्त भयंकर प्रलय देख कर भी जिसके लिये कुछ भी नहीं हुआ-सा हैं वे ही आत्मस्थ मुक्त है। वे ही वह परम ब्रह्म हैं जिनके संमुख यह सब बड़े आराम से हुआ करता है।

जिस देश ग्राम कुल व प्रान्त से इनका शरीर भी विचरता हुआ निकल गया, वही धन्य हो जाता है। जीते जी भो व मर करके भी कोई तो अपना नाम नहीं चमकाता। परंतु ये नाम यश की वासना से मक्त जीते एवं शरीरान्त में भी सर्वत्र पूजे जाते हैं। धन्य हैं इनको एवं उन्हें भी जो इन्हें पा गए। जिसको कोई भी प्रश्न नहीं रहे, जो उत्तर रूप ही हैं जिसके संमुख प्रश्न वाचक हमारे चेहरे जाते ही उनके प्रश्नवाचक संकेत में ही उत्तर पा जाते हैं उनकी महिमा कैसे कहें ?

आपका मुक्त रूप आपको सदैव निमंत्रण दिए रहता है। जब आप जरा जरा सी बात पर दुःखी होते हैं तो यह आपको बुलाता है। अब तक के असंख्य मिटे बने देह व उनकी सामग्री व आकर्षण को त्यागने वाले व उनके मिटने त्यागने पर भी असंग रहने वाले आपके मुक्त रूप की आपको फिर फिर चेतावनी, स्मृति के रूप में आती रहती हैं आप मुक्त हैं, थे व रहेंगे। आप पहले मुक्त है यह समझें व याद करें फिर आप मुक्त होकर इस रूप में बने रहें तो कोई हर्ज नहीं। यद्यपि आप हर हालत में मुक्त रहते हैं मुक्त स्वरूप की स्मृति ही आपको मुक्तानन्द दिलाएगी। मुक्त होइए—तृप्त होइए, शान्त होइए और सभी को शान्त करिए।

सभी की परेशानी का स्मरण करें और अपनी असंग स्मृति में दया का सागर उमड़ा कर, सबको शान्त करें। तृप्त से कोई नहीं डरता। अतृप्त से सब कांपते हैं। आप तृप्ति के रूप में सबको अभय दान दें। आश्वस्त करें और देखिए; जब आपके आस पास किसी को आपके कारण भय न रहेगा तो जो आनन्द व शान्त का वातावरण होगा उसका वर्णन नहीं, स्वाद ही लेते बनेगा। और वह लेंगे भी आप ही। कैसे! मुक्त रह कर, भोगी बनकर नहीं। आनन्द शान्ति को भी जीने दीजिए भोगेच्छा से मुक्त रह कर। और जब सर्वत्र जीवन में शान्ति व आनन्द ही आनन्द रहेगा। यही है जीवन में अत्यावश्यक प्रकाश। यही है आनन्द। तब क्या कहना है ?

आनन्द ही आनन्द है।

सतसंग अच्छा नहीं है !

⊙

किसो मन चले से पूछा "सतसंग में जाते हो ?" उसने उत्तर दिया "ऐसी गल्ती अब तक तो नहीं की है ।" मैंने पूछा, "कभी होने की आशा है ?" वो बोला, 'ना'। मैंने फिर पूछा क्यों ? क्या नुकशान है ? "वह बोला, बहुत कुछ, सब कुछ"। मैंने आश्चर्य चकित हो पूछा "कैसे ?" तो वह बोला "······· क्या करें ऐसे सतसंग में जाकर, जहाँ पहले ही पापी बनाया जाता है, हम स्वाभिमानियों को झुकाया दीन बनाया, जाता है ?" मैंने पूछा, तो नींद में बैठे-बैठे सैकड़ों बार झुकने वाली मुण्डी, कभी आदर देने के लिए, किसी सन्त सज्जन के सामने झुके तो क्या हर्ज है ?" वह बोला "किसके सामने ? जो ठग हों, लुटेरे हों दिनदहाड़े लूटें. सब कुछ लूटें, हमारा स्वत्व तक लूटें, उनके सामने आप झुकने को कह रहे हैं ?" मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा । मैं उसके पीछे पड़ गया । पूछा, "कैसे ठग लिया, किसे ठग लिया ?" वह बोला, किसी और की बात नहीं, मेरी है मैं खुद उन हत्यारों, ठगों, धूर्तों; लुटेरों के चक्कर में आकर सब कुछ लुट चुका ।" मै हैरान हो गया । फिर पूछा ' क्या गोंड व गाल है ? अरे कुछ बता तो, मैं भी उसी के चक्कर में हूँ। जरा होश तो दे कि मैं कहाँ हूँ ? कैसे ठगे ? तुम किससे ठगे ? कब ठगे ? वह धड़ाके से बोलने लगा, "देखं, मैं जब अपने सुधार की भावना से लोगों के बहकावे में आकर, कुछ ऊँचा उठने की चाह में एक ऐसे ही के पास पहुंचा (मैं उसे अब संत नहीं कह सकता)। बड़ी श्रद्धा के साथ (जैसी मुझमें थी) प्रणाम कर बैठा । कुछ उसकी चर्चा सुनो, मन कुछ लगा विश्वास होने लगा । जरा आगे बढ़ा और नित्य जाने लगा । धीरे-धीरे उसके आदर ने मुझे ऐसा बाँध लिया कि एक दिन मुझे ऐसा लगा कि इसे ही जीवन के लिए गाइड (मार्ग दर्शक) मानकर चला जाय ।

परन्तु उसने अब अपने स्वरूप को दिखाना शुरू किया। परमात्मा वगैरह दिखाना को छोड़कर उसने तो मेरे पर ही चोट देकर मुझे अपने को सुधारने को कहा । अर्थात् मैं सब अपने छल, कपट, दंभ पाखंड, चोरी, यारी, अनीति, भोग-सुख, मान अहंकार, राग द्वेष सब छोड़ दूं । मैंने भुलावे में आकर परमात्मा के लोभ में उन्हें भी छोड़ा । वह ललचाया और आगे बढ़कर बोला, यही नहीं यहाँ के तो सब छोड़े हैं वहाँ के भी सभी न देखें भोग भी छोड़ो । मै समझा क्या मुझे नंगा भूखा संन्यासी बनाना चाहता है यह ? परन्तु क्या करुँ शब्दों के जाल में, भगवान मिलने की लालच में, मैंने वह भी (वहाँ के दुःखी बेकारी व फजीहत का जो वर्णन सुनाया उसके अनुसार) छोड़ा ।

"केवल आसन प्राणायाम समाधि आदि व तप द्वारा स्वार्थ सिद्धि व प्राप्त सिद्धियों के मान-मद भोग से उत्पन्न हानियों का वर्णन करके मेरे भोले चित्त को उनसे भी

बहकाया। अर्थात् जप तप ध्यान सब छूटा और कहने लगा कि गुरु को मानो बस उसी में व उसे ही परमात्मा मानकर गुरुदेव की अनन्य सेवा निःशुल्क सेवा करो। कभी ननुनच न करो। कुछ न करो केवल हमारी (गुरुदेव की सेवा व ध्यान करो)।

मुझे लगा— यह बड़ा ही धूर्त है। भगवान तो मिला नहीं बाकी सब भी छूटा और यह अपनी सेवा के लिये अच्छा खासा बे पैसे का भोला सेवक पा गया। परन्तु कहते हैं जिसके बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि मारी जाती हैं। मेरी भी वैसे ही गति हुई। फँसता ही गया। फँसता ही गया। 'गुरु को परमात्मा मानो। उनके हर शब्द को भगवत वाणी मानो। आँख बन्द करके आज्ञा पालन करो अर्थात संन्देह न करो। 'मैं मानता गया। अब मेरा चित्त उसे छोड़कर कहीं न जाये।

मैंने पूछा, ''गुरुदेव, परमात्मा का दर्शन तो कराइये ?'' वह बोला—चुप। हमारी मर्जी होगी तब करायेंगे। तुम्हारी श्रद्धा की कसौटी में सब हो जायेगा मैं क्या करता ? एक दिन बोला, ''तुम परमात्मा चाहते हो ? परन्तु शिष्य बनना होगा, शिष्य ही को वह मिलता है। मैंने कहा ''बनालें।'' वह बोला, 'तन-मन-धन, प्राण और यह मैं सब हमारे अर्पण करो। संकल्प लो। मैंने ले लिया और कर लिया। मैंने पूछा 'अब ? परमात्मा ?'' उन्होंने आँखों से धमकाया। तन मन दे दिया, मैं अर्पण हुआ फिर तू कौन हैं ? तू भी अर्पण हुआ फिर किसे चाहिये परमात्मा ?'' मैं तो बिलकुल गुमसुम हो गया। न पूछ सकूँ न विना पूछे रहा जाये। पालतू बंदर की भाँति बस उसके पीछे-पीछे चलता वह जो कहता सो करता, देता सो खाता। जहाँ जाता तहाँ जाता। हिप नोटाइड मैं कुछ न कर सकता था। अब अन्दर ही अन्दर (इस बुरी कदर लूटा) मैं अपने हो अन्दर कुढ़ता ''परमात्मा ? मैं ? मेरे सब हो गये ?

एक दिन गुरुजी बोले ! सुन, तुम हम दो नहीं हैं, तुमने अपना सब कुछ हममें अर्पण किया न ? अर्पण हुई गंगा समुद्र में क्या हो जाती हैं ? समुद्र ! तो तुम गुरु में अर्पण होकर गुरु हुए। और गुरु परमात्मा है तो तुम भी परमात्मा हो। मैं हक्का-बक्का रह गया।

वह आँखों से समझाने लगे, (बोलो मत, शंका करो मत, देखो ! दोनों की आँखों में देखने वाला जो हैं न ? वह एक ही है। दोनों के शरीरों में जो है न ? वह जानने वाला एक ही है। दोनों की बुद्धियों में जो है न ? वह जानने वाला एक ही है। दोनों के अहंकार का आधार जो झूठा मैं है न; जो देहादि के सम्बन्ध में मन को लेकर सोचा करता हैं—भेद रखता है, नानात्व कल्पित करता है—मिथ्या मैं भी एक है। और जागृत स्वप्न सुषुप्ति, मुर्च्छा मृत्यु-जन्म, अज्ञान-ज्ञान सब को सब में होकर जानता है जो वह भी एक ही है। वही तुम हो वही मैं हूँ। वही यह हर देह में जो साक्षी' सर्व का आधार सबमें एक है वही परमात्मा है परमेश है, भगवान है। इसी को लक्ष्यार्थ में

राम शिव कृष्ण, दुर्गा, काली हर नाम रूपों में सब देखा करते हैं। साक्षी का ज्ञान ही सच्चा साक्षात्कार है। सारे शास्त्र, वेद, पुराण, स्मृतियाँ सन्त अनुभवी इसे ही कहते हैं, भोगी इसे ही झाँकते हैं। वही तू है। विश्वास कर। सारा जगत तेरा ही विकास है तू ही सब में है। मन की जहाँ तक पहुँच हैं और जहाँ नहीं है वहाँ भी तू ही है, साक्षी असंग निर्विकार मुक्त , देह में, मन में, बुद्धि प्राण सब में रहता हुआ अतीत शुद्धात्मा ।।

मैंने मन में कहा – 'आज तो पूरा लूट गया। यही बात पहले बता देने से शायद कभी न इनके पास आता। मैंने पूछा 'गुरु जी, यही बात पहले बता देते।" तो बोले 'पहले तुम्हें इन पर श्रद्धा न होती, न थी। शास्त्र, वेद, सन्त भिन्न को नहीं कहा करते। परमात्मा सब का निज स्वरूप ही है। अपने को भूला होने के कारण तथा अन्य भाव-संस्कारों के द्वारा मनाया जाने के कारण एकदम इस पर विश्वास नहीं होता। अतः अभी जब तुझे नंगा कर दिया गया—सबसे अलग कर दिया गया—जिससे तू ने अपने को ढँक रखा था—तब तुझे स्पष्ट समझ में आ गया।'

मैंने मन में कहा अच्छा ढंग है। घेराव घेरने में तथा अपना सामान अपने हाथों उतरवाने में बड़े कुशल हैं। मेरा तो पूर्व का सम्पूर्ण धन (विकार दीनता दुख व इनके बल पर रची हुई प्रार्थनाएँ बनाने की शक्तियाँ, साधनों का जोश, सगे सम्बन्धियों का स्नेह, बंधन जन्म-मृत्यु का चक्र व भेद तन-मन-धन प्राण सब गया। अब मैं जिन्दा हूँ कि मुर्दा यह तक नहीं कह सकता। मैं पर मैं क्या हूँ यह बताने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। जो है भी वह मुझमें हैं मेरा वर्णन वे नहीं कर सकते। निष्प्रभाव हैं।

मेरे जागते जागते मेरे सामने मुझसे बड़े प्रेम से लूटकर लेने वाले ये ठग धूर्त डाकुओं के चक्कर में कोई नफँसे। नहीं तो काऊ दीन के न रहेंगे। (सब दीनता से महजबों से दोनों से मुक्त हो जायेंगे) मेरा वह मैं गया जिसके बलपर मैं अपने इस जगत पर अकड़ा करता। मेरा यह जगत भी गया जिसपर अकड़ता। और अब तो इन डाकुओं पर क्रोध क्षोप या घृणा भी नहीं कर सकता। क्योंकि मन नहीं रहा मेरा क्या ? क्या बताऊँ सन्त जी ! इसलिये मैं कह कहता हूँ कि सत संग में जाना अच्छा नहीं है (?)' समझें ! मैंने कहा "तो ऐसे लुटेरे, ऐसे डाकू ऐसे हत्यारे तो अच्छे हैं। सन्त सद्गुरु हितैषी कहलाते हैं ये तो ? 'उसने कहा, ये आप कहो, मैं तो नहीं कहूँगा जिसका सब लुट जाय वह क्या कहेगा ?' मैंने कहा "उन्हें तो मैं प्रणाम करता हूँ जो आप को ऐसा बनादे ?" तो उसने कहा आप फिर भी उन्हें ही प्रणाम करते हैं ? उन्होंने तो मुझे परमात्मा कहा है मुझे करो प्रणाम। उन्हें आप करो वे तो मेरे आत्मा है, सगे हैं एक जात हो गई न अब ? तो प्रशंसा क्यों आप निन्दा करें ! मैंने कहा ' वह बोला—अरे, अब कहाँ की किसकी निन्दा ? मैं तो उनके कुल का हो गया हूं न ? और आप तो वही हैं। परन्तु आप से मैं लुटा नहीं "क्यों ? मैं उसपर आश्चर्य श्रद्धा व आत्मीयता के भय से सोचता ही रहा।

आप आप सब एक हैं। आप लूटना नहीं। आपका सब लूट जाता है। 'मेरा' सब लूट गया। मैं रह गया। "इसीलिए मैंने कहा था" "उसने कहा" सत्य अच्छा है सत्संग अच्छा नहीं होता है। मैंने कहा मुझे तो दोनों ही अच्छे लगते हैं। वह मुस्कराया मैं तो आपको व सतसंगको भी प्रणाम करता हूँ। लूटे तो ऐसा लूटे कि पूर्ण हो जाय। उसने भी मुझे प्रणाम किया और हम दोनों ही मुस्करा उठे।

कुछ नहीं आता

मुझे कुछ नहीं आता, मै तो कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता आदि वाक्य जहाँ जहाँ से सहज निकला करते है। परन्तु कोई भोला व्यक्ति यह कहे तो कितना फबता है। इसी प्रकार विनम्रभाव से येही वाक्य किसी महापुरुष या हर कार्य के बाद कोई सेवक कहता है तो बहुत ही मधुर लगते हैं। क्यों ? यदि कुछ करने, होने, जानने की बात, सर्वत्र अच्छी ही मानी गई है—इसीलिये यदि शिक्षालयों में विज्ञानी, विद्वान, कर्ताधर्ता, बनाये जा रहे हैं तो—क्यों डिग्री प्राप्त करने वाले यह कहना पसन्द करेंगे ? न कहें, परन्तु होता है यह बहुत ही मधुर। अकर्तापन, निर्मानता, निरहंकारता, विनम्रता सर्वत्र अच्छी लगती है। सभी अपने लिये औरों से इसी की अपेक्षा करते हैं।

विद्वान अधिकारी या कर्म धर्म के अभिमानी कर्म करते हुए व अपने कर्मों की डींग मारते हुए भी इतने अच्छे नहीं लगते जितना सब कुछ करने पर भी नहीं आता तथा मैं कुछ नहीं कर सकता वाक्य अच्छे लगते हैं। क्यों ? बड़ा रहस्य है इसमें।

कुछ नहीं आता यह कहने में हर प्रकार की छुट्टी है। न कुछ किये का भय न करने का अभिमान। जीवन भर करते या होते नाक में दम होने पर भी एवं अगले जन्म में फालतू से लगने वाले इन अभिमानों को साथ लेकर मौत के मुँह में जानेपर भी न छोड़ने वाले तथा उसी के कारण जन्म-जन्म दुःख पाने वाले भी हैं। परन्तु इसी जीवन में सबकुछ करते हुए भी कुछ नहीं करने का तथा सब कुछ होते हुये भी 'कुछ न होने' का सहज रूप से मुक्त रहना भी बड़े-बड़े ज्ञानियों को भी आकर्षक आदरणीय व अनुकरणीय लगता है। आपको पता है क्यों यह होता है ? सृष्टि विधाताने सब कुछ रखकर यह भाव सदा के लिये धारण कर रखा है जिसे वह कभी-कभी कहीं कहीं से प्रकाशित करके यह जनाता रहता है कि सबकुछ करके भी यह भाव धारण करने में सहज निरहं रहते बनता हैं। कर्म करो, सब कुछ करो परन्तु अकर्ता पनेका भाव धारण

करो। तुम कितना करोगे ? क्या विधाता से ज्यादा कर लोगे ? फिर थोड़े से के कारण कर्म भोक्ता बनने के लिए क्यों अभिमान करते हो ? इस भाव में कायरता दीनता प्रमाद या आलस नहीं है वरन् अमर स्फूर्ति के साथ भी निर्मानभाव है। विनय है। सब में रहने वाले उस परिपूर्ण विधाता के दर्शन कर उसका आदर है।

यदि सच में देखा जाय तो किये हुए सारे कर्मों में तुम अकर्ता असंग केवल साक्षी हो— सभी होने वाले नाम रूप उपाधियों में सर्वाधार तुम असंग हो और आने जाने के अभिमान से रहित सदैव सहज कौतुक के सर्वस्व तुम हो। इसी कारण मैं कुछ नहीं कर सकता' 'मैं कुछ नहीं हूँ' 'मुझे कुछ नहीं आता' इस प्रकार भाव धारण करने की प्रेरणा मिलती है।

जन्म मृत्यु कर्म धर्म, मान अपमान, बच्चा बूढ़ा जवान, स्त्री पुरूष, योग भोग, भाव कुभाव, अभाव, ज्ञान, अज्ञान रजतम गुण समाधि आदि अवस्थायें सृष्टि प्रकाश स्थिति आदि आदि मुझे कुछ नहीं आता। कहते रहो, मुझे कुछ नहीं आता। जब तक आपके अन्तर तम के किसी भी भागमें, कहीं भी लेश मात्र अहं भी करने होने का बच्चा हो यही कहते रहो। आप जब सहज स्थिति में आ जायेंगे तभी आपको सुखानुभूति होगी। इन्हीं कर्माहंकारों ने ही तो आपके सहज स्थिति को ढँक रखा है। यही हैं विरोधी आपके सहजानन्द के। कुछ बन गये हैं आप। परन्तु कुछ भी हो, मिटाना तो पड़ेगा, भूलना तो पड़ेगा ही। फिर अभी से उन डंकों से अलहदा हो लें और जीवन भर आनन्द लें।

आपके इन अहंकारों के पल्ले कोई चीज अधिक दिन तो पड़ती नहीं, क्योंकि यह विनाशी है। सूखे अहंकार से क्या लाभ ? इसीलिये सर्व शक्तिमान कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं भगवान भी अवतार लेने पर इस सहज वृत्ति को धारण करके महापुरुषों के सम्मुख विनयी होकर ही देखे गये हैं।

और इसी एक सहज युक्ति से सब झंझटों से आप निवृत्र हो सकेंगे। बाहर बोल कर मानकी अभिलाषा न हो तथा अन्तर में केवल आपको छोड़कर अन्य किसी को न रहने दें। बस, यही सहज समाधि सहज स्थिति है। उस योगिक ध्यान व समाधि से भी यह आनन्द न होगा। ध्यान तो विषयों की चित्तवृत्रि की निवृत्ति होने पर स्थिरता है। बहुत देर तक निर्वृत्ति होने से चित्त की समावस्था समाधि है इनदोनों से आत्मबोध व अकर्तापन का बोध तो नहीं होता। वरन, बोध होने पर यह समाधि व ध्यान सहज होता है क्योंकि अपने आप के सिवा अन्य कुछ जब अपने पर हो ही तहाँ विराग समाधि व बोध तीनों ही सहज रहते हैं, और इसके लिवे हर देश, हर काल व हर अवस्था में धारण करें। अर्थात अपने स्वरूप का ध्यान रहे। यही प्रेरणा है। आप निरहं, अकर्ता, अभोक्ता, अजन्मा केवल साक्षी स्वरूप हैं।

●

न बन सके

तुम तुम्हारे सिवा और कुछ न बन सके। देख-देख सुनकर ईर्ष्या, मोह या संगवश बनने की हजार बार कोशिशें कीं परन्तु रहे तुम्हीं। जो बना वह बना न रहा और तुम उस प्रकार बने न रह सके।

क्या-क्या बने यह तो मुनीमों के द्वारा लिखी बहियों (वेद शास्त्र पुराणों में) देख सकते हैं कि कसर कुछ न रखो बनने बनाने में परन्तु हार हुई, करारी हार हुई कि कुछ बन न सके, कुछ बना न रहा। राम के द्वारा कंकड़ डालने में जैसा वह डूबा ही तुमने जिसे पकड़ा वह रहा नहीं।

न जाने क्या नजर पैदा की थी तुमने जो हरेक कपड़े को देखते ही मानो हिरस होती कि कोई और जो पहने हैं मैं भी पहनूँ। परन्तु वह इतना तंग होता कि हिलते, ठीक बैठाते-बैठाते ही फट जाता। और आप शर्मिंदे हो फिर अपनी शक्ति क्या है यह न सोचकर कपड़े को दर्जी को (प्रारब्ध को) दोष देकर घूट गये। बहरहाल ऊँचे से ऊँचा व घटिया से घटिया पहना व बनवाया परन्तु वे सभी आप से छूते ही घिसते, फटते व क्षीण होते हुए जाने की ही धुन में रहे।

क्या शरीर क्या स्वभाव क्या भोग किसी को भी अधिक दिन तक साथ न लिए रह सके। न किसी के साथ आप बने रहे न वह ही आप के साथ बना रहा। क्यों? कैसे बने हैं आप? कैसे बने हैं ये? आप सदैव बने क्यों रहते हैं? और ये हरदम क्यों जाते नजर आते हैं? क्योंकि ये आप से नहीं आपकी कल्पना से बने हैं। कल्पना व उसके कार्य के रचयिता में सब दर्जी (पंचभूत-गुण) स्वयम् टिकाऊ नहीं है तो फिर ये सदा क्यों रहेंगे? आप जब किसी से बने नहीं तो फिर आपके समान अक्षय अमर ये कहाँ से बने रहेंगे?

इसलिये लाज शरम संकोच आश्चर्य शोक व क्रोध की आवश्यकता नहीं। यह तो आप के स्वरूप में ही दोष है। और यह दोष कभी मिट नहीं सकता। फिर यही कहना है कि आप या तो यह कपड़े पहनने की धुन छोड़ दें या जैसा भी है उसकी निंदा दोष दार्शनिक शिकायत न करें। जब तक पहनना है पहने उतारता है, उतार दीजिये। यह तो बिचारा आप के ऊपर आते हुए भी डर के मारे अलग ही रहता है। तो आप अपना डर इनमें से निकाल दीजिए। इन्हें तंग न करें व अपने को तंग न समझें न इन्हें फाड़ने के लिए इतना फूकें कि यह चर्र से फट जाय। जो जितना ही कपड़ा हो उतना

ही बल्कि उससे भी सिकुड़े बने रहकर इन्हे खुश करें। इन पर अपनी पूर्ण शक्ति न आजमाइए। वैसे तथ्य का नतीजा यही है कि आप कुछ बन सकेंगे न ये सदा आप के साथ रह सकेंगे। आप ऐसे ही कपड़ों के लिए तरसते रहिए चाहे वैसे ही अकेलेपन में खुश हों या रोते ही रहिये। रहना आप को ही पड़ेगा, ये कोई भी साथ न देंगे। जितना जिन्हें आता है इससे ज्यादा नहीं कर सकते। नाराज होने की बात ही क्या है ? जब इन्हें और कुछ आता ही नहीं सिवा इसके कि कुछ दिन रहकर आपको पहचान कर सिमट जाना, भाग जाना, उतर जाना, फट जाना—तो आपको भी यह समझकर खुश हो जाना चाहिये कि अच्छा हुआ कि मुझे अपना स्वभाव ये न देसके और मेरा स्वभाव न ले सके।

पुत्र के बिना पत्नी के (माया व मायावृत जगत) के आप ऐसे हो रंडुवा रहे हैं एवं रहेंगे भी। यह कोई शाप नहीं आपकी आन्तरिक स्थिति को जानकर ही कहा है। हमारे कहे या न कहे भी आप कुछ कर न सकेंगे, न बन सकेंगे क्योंकि आपका स्वरूप ही ऐसा है जो न कभी कुछ बना है न बना सकता है और अबतक बना है। सारे बने बनाये में अनबने आप ही हैं।

अनबना ही रहकर आप सब बने के आधार बने रह सकते हैं। बनकर तो आधार ढूढ़ने लगेंगे ? आधार किसी और को देखकर आपको अधिक दिन तक पसंद आयेगा नहीं जबतक बनावट की भावना निकाल कर आधार रूप (अपने को खोज न लेंगे। इसी प्रकार आप अबतक रहे हैं और रह सकते हैं। अब यदि छक गये हैं तो कुछ बनने बनाने की कल्पना से पिन्ड छुड़ाइये। ज्यों के त्यों रहिए।

अनबने ही रहिए। अनबने ही (बनाकर मिटने पर प्रकृति के विकारों यदि फिर ऐसे ही) अनबने ही रहना है तो क्या और क्यों बनाते हैं ? इन सबको बनाने दें, आप कुछ न बनायें। यद्यपि बनाने न बनाने में भी आप अनबना ही रहता है, यह तथ्य हैं, तो चाहे जो कुछ करिए। बनें चाहे मिटें, चाहे बनाए मिटाए, परन्तु बने रहकर ही यह खेल होता है, हम यह जानते है। आप सदैव अलग अनबनें ही रहेंगे। क्योंकि आप ऐसे वैसे नहीं जो किसी के बनाए (वहकावे में आए) बन सके।

जीवन बनो

धरती के प्राणियों व वनस्पतियों आदि को धरती ही जीवन है। धरती का जल जीवन है जल का अग्नि-अग्नि का वायु एवं वायु का आकाश जीवन है। आकाश का जीवन महत्तत्व (समष्टि) त्रिगुण है। समष्टि त्रिगुणों का जीवन समष्टि चित्त है (प्रकृति) व प्रकृति का जीवन समष्टि अहं (पुरुष) है। परमात्मा सभी का जीवन है।

जैसे जल की मछली पानी में स्वच्छन्द जीती है जल उसका विरोधी नहीं चाहे जहाँ घूमे, उसी प्रकार धरती के प्राणी धरती पर मछली के समान अविरोधी धरती में विचरते हैं। ये सब धरती की मछलियाँ ही हैं। जल की मछली जल में हवा की मछली ये पँछी के रूप में उड़ती है तो वायु की मछलियों में तारा गणसमूह स्वच्छन्द विचर रहे हैं और आकाश में यह समष्टि प्राण व ये देवगण सिद्ध योगी आदि मछली के समान ही बड़े प्रेम से बढ़ते व घूमते हैं। जो जिसका जीवन है वह अपने आश्रित का विरोधी नहीं है। क्यों कि वह उसका जीवन है। आपस में एकेक के विरोधी अनुकूल भले बने परन्तु आधार किसी का विरोधी नहीं हैं।

देखिये मन की मछलियाँ ये वृत्रियाँ हैं कैसी कुलाटे लेती हुई घूम रही हैं। बुद्धि की मछलियाँ ये विचार इसमें स्वच्छन्द हैं। चित्त की तरंगे जिनसे बाह्य यह विश्व प्रस्फूरित होता है। उस चित्त में हैं तो इस अहं में समस्त अहंकार सुरक्षित हैं। यह किसी अहंकार का विरोधी नहीं हैं।

जीवन लेने के वजाय देने में क्या मजा हैं? परमात्मा सबका जीवन क्यों बना हैं? आपस में लड़ते झगड़ते मारते पीटते रोने कूटते कटते मरते व्यथित होते देखता हुआ भी वह किसी को क्यों नहीं रोकता या बदलता? उसे कोई भी अखरते नहीं हैं क्योंकि जल से जिस तरह मछली रूठती नहीं, इसी प्रकार परमात्मा से कोई भी रूठता नहीं फिर उसे क्यों अखरे? परमात्मा को कोई भी ठुकराना पसन्द न करेंगे जैसे जलको मछली। फिर परमात्मा किसे ठुकराये! किसी को कोई वृत्ति भी बाधक नहीं, साधक है। आपस में जब साधक बाधक हरेक बनेही हैं तो परमात्मा किसी के बीच न साधक बनता है न् बाधक। क्योंकि वह जीवन है जीवन। किसी को भी मरने न देने की उधर भावना से सबको धारण करने वाले परमात्मा में कितनी अपार दया है? जैसे हम शिकायत करते हुये भी अपने मनको ठुकराते नहीं। अपने शरीर से कुछ नुकशान होते देखकर भी इसका प्राण इससे अलग न हों यही चाहते हैं। परमात्मा की अथाह दयादृष्टि में पले ये समस्त गुण दोष व उससे सुसज्जा संसार भी इसी कारण सदा से

पलता आया है। नेवला जिस बूटी को तलाश कर साँप से लड़ता है उसी प्रकार मानो सबने परमात्मा के आसरे रहकर ही यह जीवन की लड़ाई ली हैं। इस नजर में जिसमें कोई न मरे की पूर्ण भावना हैं उसमें कितनी मधुरता मादकता है। जिसे वह प्राप्त हो गई वह धन्य हो जाता है; उसे भी परमेश्वर के नाम से संबोधित किया जाता है। 'सब अपने हैं' यह जो भाव इस दृष्टि में अखण्ड रहता है, वही अमृत है। इस भाव को फिर कुछ भी अखरता नहीं। अपनत्व में सब हजम हो जाता है। प्रेम में सब दोष, सब विभिन्नता व सारी विचित्रता पलती है।

आप किसी के जीवन को लीजिये और आप नफरत की निगाह से देखे जायेंगे? यह कौन सी आँख हैं जो देखने लगी? आपको डराने, धमकाने या मना करने लगी? वही है; जिसके ये सब हैं? आप मरते, तड़पते, सिसकते किसी के आँसू पोंछिये कौन प्रसन्न हो रहा है—आसपास की आँखों में? वही जिसका वह था। यदि इस आँख से आपकी आँख लग जाये तो आपको अपने अभी के स्वभाव के लिये शरम आयेगी। किसी के जीवन को बचाने की धीरे-धीरे इतनी प्रसन्नता होने लगेगी कि फिर आप जीवन लेने की कल्पना अपनी या किसी की भी सहन न करेंगे वरन् धीरे-धीरे हर ओर जीवन लुटाते जीवन में सबको रखते, जीवन के अविरोधी बनते जायेंगे एवं एक दिन स्वयम सब के जीवन बन जायेंगे। आप के आसपास कम जनता कम प्राणी, कम विभूतियाँ, कम सुख क्यों हैं? अवश्य ही आप जीवन लेने की दृष्टि बना चुके होंगे। आप उसे जाँचिये जिसके आसपास हर प्रकार की विभूतियों की भीड़ होगी—उसमें लेने के बजाय देने की नजर आ गई होगी। क्या लेना है? दुःख लीजिये। अर्थात् ऐसी नजर बनाइये जो किसी के दुख को न सह सके और तब आप के पास समस्त जीवनापेक्षी, समस्त भयभीत प्राणी आने लगेंगे। डरी हुई मछली, किनारे में नहीं, जल की ओर ही दौड़ेगी—गहरे जल में। क्यों? वही तो उसे बचायेगा। वह जीवन है। इसी प्रकार अधो ऊर्ध्व में विचरने वाली ये समस्त चौदहों भुक्तभोगी सन्तानों को विश्वास कराइये कि आप की नजर में कोई विष नहीं, कोई चुभन नहीं, कोई भयंकरता नहीं है, हिंसा नहीं है। सर्वत्र काल के भय से भयभीत सभी अभय दान के दाता ढूँढ रहे हैं। परन्तु जहाँ भी यह पा जायेंगे—हजारों जगह हजारों बार के ठगे वे एक बार भी न आयेंगे। आपके पास तभी आयेंगे जब पूर्ण विश्वास होगा, जब किसी प्रकार इच्छा कर्म भावना, वाणी में आपके द्वारा उन्हें भय नहीं होगा तो वे आप के आसपास मण्डराने लगेंगे।

सब मृत्यु भय से आक्रान्त हैं। आप अमर आत्मा कहलाते हैं परन्तु आप में वह अमृतमयी नजर अभी आपने जागृत नहीं की है अतः चाहते हुए भी आप के पास कोई नहीं आता। अतः क्रोध, अधिकार की भावना से हिंसात्मक वृत्ति से नहीं, छल-कपट भय लोभ से नहीं, विनाश की भावना से नहीं, केवल अभयदान की दृढ़ पूर्ण भावना भरी

रसीली आपकी नजर होते ही आपके जगत में परिवर्तन दिखाई देगा—अपूर्व परिवर्तन होगा।

अतः जीवन बनें। जीवन लें नहीं, दें। जीवन बनें। आप ही सब के प्राणाधार हैं सबके सब कुछ। परन्तु जीवन बनें—अविरोधी, सहज-सनेहमय सर्वाधार।

मैं जीवन हूँ सब का प्यारों हरदम मुझको लूट लो,
लूट २ कर भी तुम न लुटो, बस मुझे लूट लो ॥
मुझे तुम्हारा लूटना अपना लुटना लगता है,
मुझे तुम्हारा फलना अपना फलना लगता है
यदि कसर कहीं हो तुममें निर्भय से मुझको लूट लो ॥ लूट२ कर····
अविनाशी हूँ अजर अमर मैं तुम्हीं बन गया,
या किंचित भी दुःख तुम्हारा देख सन गया।
अपने साथ रूदन करने में बेशक मुझको लूट लो ॥ लूट२ कर···
मेरा भाव तुम्हारे सँग है सदा सुखी हो
चुन-चुन मुझको रहो सदा, ना कभी दुखी हो,
खेल-खेल में जो कुछ टूटे मुझसे मिल सब टूट लो ॥ लूट२ कर···
मुझे लूट लो मुझे लूट लो हर विधि से तुम लूट लो
पर न कभी भी विलग दुखी मुझसे न रहो तुम,
अलग२ या सभी एक संग जो चाहो एक जूट लो ॥ लूट२ कर···
मैं प्रकाश हूँ आनन्द भी हूँ संग तुम्हारे
मैं अम्हन्त हूँ, हूँ अखण्ड तुम प्राण पियारे
जो चाहो जितना भी लो बस अमृत के तुम घूँट को ॥ लूट२ कर···

●

सन्त की दृष्टि व्यापक वृत्ति

बिजली का लट्टू जब प्रकाश करता है (एक प्रकार से नेत्र खोलता है) तो उस नकली आँख के रोशनी में पतिंगे नीचे से ऊपर उठ जाते हैं परन्तु नकली आँख वह प्रकाश है जो जलाता है, तडफाता है। फूल में सुगन्ध है कोमलता है परन्तु वह बोलता नहीं। आकाश में गंभीरता है अनन्तता है परन्तु वह शून्य है, मौन है, समुद्र में गंभीरता है परन्तु खारा है; मुर्दा भी असंग है परन्तु असंग को पहचानता नहीं, बादल मधुररस

पूर्ण हैं परन्तु खुद अपनी पवित्रता सुरक्षित नहीं रख सकते बरसते ही साफ को भी मट-मैला कर देते हैं, वृक्ष उदार है परन्तु जड़ है; मक्खन कोमल है परन्तु अपनी तपन को सह नहीं पाता; पहाड़ महान हैं परन्तु उन्हें खुद अपनी महानता का ज्ञान नहीं है; देवता धनी है परन्तु उन्हें खुद उनके धन से सुख नहीं है, और भगवान सर्व हृदय में स्थित हैं परन्तु तड़फते प्राणियों को देखते रहते हैं न दीखते हैं न दुःख मिटाते हैं; केवल देखते रहते हैं। शास्त्रों वेदों में सर्व ज्ञान है परन्तु अपनी रक्षा मुक्ति खुद नहीं कर पाते, कहाँ तक कहें सर्वत्र विभूतियाँ हैं परन्तु एक भी विभूति सम्पन्न या सब मिलकर भी एक सन्त के बराबर नहीं हो सकते। इन सब के उपकार देह मनप्राण इन्द्रियों व बुद्धि पर हो सकते हैं परन्तु सन्त तो अनादि काल से सर्वाधार जगदाधार परब्रह्म परमात्माजो निजको भूलकर जन्मजन्मान्तर के दुःखों में भ्रमता-सा है – उस पर रीझे हुए होने से उसके दुःखों से उसे ही मुक्त करके स्वात्म स्थिति कर देते हैं। सन्त नेत्रों से, स्पर्श से, संकल्प से व वाणी से जीव को नीचे से ऊपर उठाते हैं। फिर वे नीचे नहीं गिरते, स्वयम् सन्त हो जाते हैं। शीतल तृप्त-निजतृप्त हो जाते हैं। सन्त के प्रेम की सुगंध से ही संसार इस दुःख सागर में जी भी रहा है, सान्त्वना पाता है। इस फूल की सुगन्ध को तरसते हैं— देव-दानव, मानव। परब्रह्म परमात्मा भी अवतार धारण करते हैं इनके दर्शन स्पर्श व सेवा के द्वारा कृत-कृत्य होने के लिए। सन्तवाणी द्वारा सबको तृप्त करता है, निष्पक्ष, निर्मस्तर, बेबदले। आकाश के समान गंभीर होते हुये भी जड़ जो नहीं सबको अपने हृदय के दायरे में प्रेम से रखने वाले हैं, समुंद्र के समान गंभीर होते हुए भी मधुरतम हैं। समुद्र के समान दुशांत नहीं कि मीठा जल रखते हुए भी पीने के लिए किसी आये अतिथिको मीठे पानी के लिए तरसाता रहता है। सन्त निर्विकार जीवित अमृतदान है। जिस पर मन, काल एवं विश्व अपने दाँव-विकार, मृत्यु एवं आकर्षण नहीं डाल पाते। सन्त दया के बादल हैं जो हृदय की तपन को बुझाते हैं— बादल हृदय के विकारों से उत्पन्न तपन को नहीं बुझा सकता है– खुद वह अपनी आग से तड़पता व रोता है। सन्त हृदय में वाणी वर्षा कर हृदय को ऐसे धोते हैं कि मैल कहीं रहता ही नहीं। सन्त वृक्ष हैं, अनुपम विचार रूप फूल फलों से लदे हैं, उदारता से उन्हें जिज्ञासुओं व सबको चेतन ब्रह्मरूपत्व का दान करते हैं। मक्खन में कोमलता हैं परन्तु किसी के दिए हुए ताप को सह नहीं पाता—सन्त सब के ताप को उसी तरह हरते हैं जैसे कहीं तपन थी ही नहीं। हिमालय के समान शीतल सन्त महान हैं, अपने पास आने वालों के नग्न चित्रों को शीतल कर देते हैं। वे स्वयम् महान होकर आश्रितों को निज रूप बना लेते हैं। देवता धनी होते हुए सुखासक्त हैं – दुःखी हैं, परन्तु यह देव ऐसा है जिसे सुखेच्छा ही नहीं है वह निर्विष्यी है एवं पुण्य पाप मय तीनों मानव-दानव देवों से जीव को मुक्तपर गुणातीत कर देता हैं। भगवान सर्व हृदय में जो छुपा रहता है जिसे खोजकर सभी थकित वास्तव में निराश होते हैं – उसे चुटकी में ये मिला देते हैं—

खुद तू ही है यह कहकर पकड़ा देते हैं। शास्त्र जड़ गुरु हैं, ये सन्त चेतन गुरु हैं तुरन्त हाथों हाथ मुक्ति देकर आप मुक्त रहते हुए विचर जाते हैं— एहसानमन्द किसी को बनाकर ऋणी नहीं रहने देते।

अपने पुरुषार्थ से जो हीन हो गए हैं या रहित हो गए हैं या जो थक गए हों वे अब केवल एक ही उपाय करें कि इन्हीं की लगन लगाकर, इनके चरण रजानुरागी बनकर इन्हें जब पाएँ झपट कर अपने हृदय के दुखड़े को इन्हें सुना दें एवं देखिए आपके हृदय की तपन आप तुरन्त मिटी पाएंगे।

जिनसे अन्तस्थल में महान निजका अज्ञान है वे इन्हें खोजें, इनका सामना होते ही उन्हें अपने में प्रकाश मिलेगा और ऐसा प्रकाश कि वे खुद प्रकाशमय हो जाएंगे स्वयम् प्रकाश।।

जिनके ऊपर-ऊपर काई है—विकारों की, जो उन्हें जल के समान हटा नहीं पाते हैं—जो इसी से मोह करके सही समझते हैं वे भी इनकी ओर ताक लगाएं। कभी लगायें वो भी ध्यान रखें कि वे खुद आपको देख रहे हैं एवं समय पाते ही हवा के एक झोंके से हटी काई में एक दम पड़े सूर्य प्रकाश के समान झाँक कर अन्तः स्थल तक नजर पहुंचा देंगे और वहाँ तुम्हें तुम्हारी गहराई का अनुभव कराकर झट अलग हो जायेंगे। अन्त में आप सदा शुद्ध हैं' यही उन्हें आपको बताना है।

आप कुछ न कर पायें, नसही—केवल सन्त को स्मरण रखें। बस इसी में सब ही हो जायेगा। भगवान तो एक युग में अवतार लेते हैं वे ज्ञानावतार में न रहने के कारण, अधर्म संहार करने के मुख्य उद्देश्य में सबके अज्ञान को नहीं मिटा पाते; इसी से सन्त रूप में वे ही भगवान सर्वत्र सदा छाये रहते हैं। ये आपके अज्ञान अंधकार को हटा कर आपके स्वयं सिद्ध स्वरूपको आपको जनायेंगे। ये वे नौकायें हैं जो भवसागर की इस अथाह अपार सीमामें फैली हैं और दौड़ती रहती है जिन्हें जहाँ भी जरूरत हो—जो भी जिसे पास पड़े—पकड़े और बैठकर पार हो जाये। ये सब एक ही ठेकेदार की बहाई हैं।

जो साधन योग जब ध्यान समाधि से हारे हैं वे इन कोमिलें, इनकी समाधि को समझें। यही वे हैं जो चलते फिरते नित्य समाधिस्थ रहते हुए भी सबको समाधिस्थ करते रहते हैं। सम को बिना समझे समाधि कैसी ? सम में समाधि की क्या जरूरत ? सम को वे समझायेंगे, दिखायेंगे और आपकी श्री (बुद्धि) समाधि पा जाएगी।

इन्हें ही सतगुरु कहते है। ये ही सन्त अवधूत परमहंस साधु भगवान व अज्ञानी नास्तिकों की भाषामें ठग गुण्डे धूर्त कहे जाते हैं। ये ठगते है आपके विकारों को, माया को। ये गुंडे हैं जो आपके उधमी मन को इन्द्रियों को, ठोक कर रास्ते लाते है ये धूर्त हैं जो किसी के पंजे में नहीं आते। सबको छुड़ाने वाले किसी के पन्जे में आ जाएँ तो कैसे बनेगा ?

ये कुछ नहीं करते परन्तु अपने में विकार नहीं आने देते। इतना ही क्या कम है? ये कुछ नहीं करते किसी पर अपना बोझ नहीं लादते परन्तु आश्चर्य यहीं कि इन्ही के बोझ से, ऋण से—समस्त संसार भारी हो रहा है, ऋणी है।

सन्त न होते जगन में जर जाता संसार
आग लगी आकाश में झर झर गिरे अंगार।।

ये वे फूल हैं जो हर कहीं हर किसी जाति देश काल स्वभाव के भेद से रहित सर्वत्र सबकी महिमा बढ़ाने के लिए सर्वत्र सदैव होते हैं। ये ही तो इन्हें बतलाना है कि सब जगह एक जैसा है। सर्वत्र परमात्मा है।

वेद विदित हैं साधु में साधु वेद में नाहिं
जो रहनी साधु रहे वेदउ जानत नाहिं।।
सन्त हमारी आत्मा हम सन्तनके जीव
आठ पहर निरतत रहें ज्यों माखन में घीव।।

आप पढ़े, हों अनपढ़ हों, पापी हों, साधन हीन हो, पतित हों, ठुकराये गये हों, अभिमानी हों, गरीब हों, अमीर हों, दुखी हों इन्हें पाइये और आप उनके एक ही क्षण के दर्शन व सतसंग से उठते नजर आयेंगे। आप साधु बन जायेंगे। साधुता सर्वत्र पूज्य है। भांग है साधुता की—साधु की—चोर की नहीं।

सन्त पर किसी का अंकुश नहीं रहता। वह निरंकुश है। अंकुश भोगियों पर, हिंसकों पर, त्रास देने वालों पर है। सन्त सदैव नीराग द्वेषी सर्वहितैषी शान्त आत्मा तृप्त कोमल है वह समता निताकामता असंगता व दया आदि सम्पूर्ण महान् गुणों से चलता फिरता हुवा विश्वाधार परमात्मा ही है।

जीते हुए जिन्होंने नहीं पाया वे सच में मृत ही हैं। अतः अपने वास्तविक धन को पाइये। ये धरती की शोभा हैं सुगंध है। ये नहीं तो वह धरती कलुषित त्यक्ता व अशान्त है। इन्हें पाइये और इनसे ही अपने को पाइये।

इनकी व्यापक दृष्टि को चखिये। इनके लिए सब इनके हैं। इन्हीं की दृष्टि में आपको वह दृष्टि मिलेगी जो सबको देखने वाली करुणामय निष्पेक्ष दृष्टि—परमात्मा है, इसका स्वाद चखें अवश्य चखें इससे अधिक किसी चीज का स्वाद नहीं है। इसे पाकर आपको कोई भी चुभने वाला पदार्थ जगत में महंगाही नहीं।

जिन्हें अपना माना हुआ 'सब कुछ' अब यदि 'कुछ नहीं', समझ में आ गया हो तो अब तक माने गये कुछ नही स्वयं इन सन्तों का ही अपना सब कुछ मान लीजिये और देखिये कि आप ही वे सब कुछ नजर आयेंगे जिनके बिना वे सब कुछ नहीं रूप हैं।

बार बार बन्दन करूँ नित्य मुक्त गुरुदेव ।
जिनके क्षण सतसंग से पायो मैं निजभेव ।।
सब जग इक तरफा रहे इक तरफा हो सन्त ।
तो पलड़ा झुकता रहे जिधर होयेंगे सन्त ।
यह प्रकाश जिनका भया वह प्रकाश के रूप ।
यह प्रकाश जिनको भया वे जाने निज रूप ।।
आदि अन्त जिनका नहीं, हैं अखण्ड आनन्द ।
वे सतगुरू पूरण हुए स्वयम् प्रकाशानन्द ।।
अपना अब हाँ कोई नहीं अपने में है आप ।
'सब कुछ' अपना हो गया जिधर उधर है आप ।।
'बोलो सन्त भगवान की जय ।

कृतज्ञ और कृतघ्न

कृतज्ञ एवं कृतघ्न दो स्वभाव है। कृतज्ञ माने हुये उपकार को मानने वाला। व कृतघ्न उसे कहते हैं जो किये हुये उपकार को न माने। ऐसे बहुत व्यक्ति होंगे जो कृतज्ञ हैं एवं ऐसों की भी भरमार है जो कृतघ्न होते हैं। किसी न किसी का हर किसी पर कोई न कोई उपकार होता है। एवं हर कोई कुछ न कुछ हर किसी के लिये कृतज्ञ होता ही है। क्यों, क्या, कौन के झगड़े में न जा कर, व होना चाहिये या नहीं और होना भी चाहिये तो कृतज्ञ या कृतघ्न इसपर न जाकर हम तो अपनी बात कहेंगे। बाकी पाठक अपने बारे में जो सोचना हो सोचते रहें।

मेरे पास, मेरा यह शरीर व मैं हम दो ही हैं। इस शरीर का स्वभाव भी आप भी जानते हैं और मैं भी। पर मुझे जो अनुभव आया वह यह है। यह देह बड़ा कृतघ्न है। बचपन से मृत्यु तक इसकी नौकरी बजाते-२ नाकों दम आ गया। यह कभी वश में न हुआ। यह और किसी के बश में तो होता नहीं परन्तु मेरे भी नहीं हुआ। रोज उठाना, सफाई करना, स्नान दातुन, कान, आंख, नाक, सब, सफा करना, भोजन, चाय कराना, वस्त्र पहनाना, निगरानी करना (कि कहीं चोट न लगे, भूखा प्यासा न रहे, मार न खाये) खेल खिलाना, थकने बीमार होने पर दवा दारू करना, व नींद आने पर बिस्तरा बिछा

कर इसे थपथपाकर सुलाना और सोते हुये भी चौकसी में रहना कि रात को किसी प्रकार इसे कोई कष्ट न हो इस प्रकार चौबीसों घंटे इसकी सेवा मजदूरी में लगे रहते हैं परन्तु यह कि इसके बावजूद एक दिन नहीं एक बार भी सेवा में त्रुटि पड़ जाये तो अकड़ जाता है। घोखे में दो बार हो जाये तो बिना मजदूरी के उठेगा नहीं, तीन बार हो जाये तो बोलेगा नहीं और चार बार हो जाये तो देखेगा नहीं और कहीं अधिक दिन हो जायँ तो जाऊँ-जाऊँ की धमकी देने लगता है। मैं सोचता हूँ कि बिचारा असहाय है, निर्बुद्धि है, अनाथ है, थोड़ी आयु वाला है हजारों इसके विरोधी विकार, गुण, रोग, दुःख, इसे चारों ओर से घेरे हुये हैं काल तो अपनी फौज के साथ ताक लगाये ही रहता है। थोड़ा डरता है तो केवल मुझसे ही काल डरता है, नहीं तो इसे तो तुरन्त चम्पत करे। परन्तु यह दुष्ट कभी इस उपकार को नहीं मानता। इसके साथ मित्र दिये, नौकर दिये, जो इसे खेल खिलायें, घुमाये फिराये प्राण मन इन्द्रियाँ बुद्धि आदि। परन्तु वे भी अब तो इसके स्वभाव से परिचित होते-होते इससे रूठे-रूठे से रहने लगे (मैं इन्हें भी मानता हूँ, इसे भी; परन्तु यह औरों पर तो क्या अपने पर ही रहम दया) नहीं करता। लगता है इसे छोड़ दूँ परन्तु मैं अपने स्वभाव को क्यों छोड़ूँ ? यह सोचता हूं ? है यह कृतघ्न ही।

हालाँ कि जो कुछ इसके द्वारा मुझे अपने राज्य की सैर करके देखने का मजा मिला है इतनी बात मैं मानता हूँ। जो कुछ देश काल वस्तु रूप मैंने बनाये थे इसी के सहारे फिर-२ देखे। इसी एहसान को मानकर तो इसकी सेवा करते हैं, प्रत्युपकार के रूप में वैसे इतनी सेवा के द्वारा भी यह रथ यदि इतना ही कार्य करता है तो कोई ज्यादा नहीं है। दुनिया भर के व्यंजन खिलाये तो मैंने इसको, मैंने नहीं खाये। मैं इसे खिलाकर ही खुश रहा केवल देखता ही रहा। दुनिया भर के साधन इसी के साथ किये हैं। मैंने अपने ही साधन जो पूर्व निर्मित किये थे इसे दिखाकर किये। परन्तु इतना सब कुछ प्राप्त करता हुआ भी यह कृतघ्न का कृतघ्न ही है। यह बात नहीं कि यही एक ऐसा है इसके समस्त साक्षी जाति भाई बेईमान हैं। केवल मैं ही कृतज्ञ रहा हूँ क्योंकि हरेक के कृत को मैं ही जानता हुं सदैव।

एक बात और है। जब कई बार मैंने इन सभी के ये लक्षण देखे तो अब उपराम हो गया हूँ। अब इनके साथ खेलने या इन्हें खिलाने की भी चाह नहीं है। और जब से इन्हें यह ज्ञात हुआ कि ये उपरान्त हो रहे है तो अपने स्वार्थ के कारण अब पीछे पड़े हैं। जबसे मुझे अपने घर की जाने की इच्छा हुई, घर की याद आते ही सब फीका लगने लगा। अब मैंने जो अनेक साधन किये, सभी साधनों में (जो भी अन्तर्युक्ति ले जाने के हो सकते हैं) जो भी जिसने बनाये (दान धर्म कर्म मंत्र तंत्र जप सेवा कार्य भक्ति ध्यान समाधि) सभी किये परन्तु सब में अब न जावे क्यों ? यही शरीर बड़ी लगन के साथ सहयोग देने लगा। अब तो मुझे छोडता ही नही। मैं इसे छोड़ने भूलने की कोशिश में

हूँ समाधि लगाकर घंटों दिनों, महीनों अलग होने की धुन में बैठा रहा परन्तु कभी तो आयेंगे इस मोह में यह चौकी लगाये बाहर ही बैठा रहा। मैंने सब कुछ किया और इसने भी वड़ी मदद की। परन्तु अन्त में मैंने अपने ठीये (लक्ष्य) को पा लिया और इससे वास्ता तोड़ दिया। यद्यपि यह अब भी पीछे लगा है परन्तु मैंने इसे मन से उतार दिया है। अब मुझ पर नही हैं। सच में, मैं केवले मैं ही अब आपसे बात कर रहा हूँ। पहले मैं इसकी ओर झुका हुआ था तो यह उतना ही कृतघ्न होता हुआ अकड़ रहा था। बराबरी के बदले में अब मेरी बारी है यह कृतज्ञ सा हो गया था यह अपने स्वार्थ में, मैं अपने में। परन्तु मैं इसे छोड़ दूँगा यह अब फिर कभी मुझे नहीं पा सकता। यह भी यह जानता है। अब इसकी आँखों में पानी है. नमी है. पश्चाताप है घुटन है. परन्तु मुझ में जाने क्यों इतनी उदासी आगई है कि मैं अब इसे नहीं पहनूँगा, उतार दूँगा ही सदा सदा के लिये। यही एक क्या, अब इसका कोई साथी भी मुझे नहीं चाहिए। जो इस नंगे पन में (असंगना में) मजा आया है (बिना भार के हल्के-हल्के) ऐसा कभी नहीं आया था। अब मैं असंग मुक्त और निर्द्वन्द्व हूँ। इसकी लाख चिसैरियाँ सुनने पर भी मैं अब पक्का कृतघ्न हो गया हूँ। इसी के साथ मन बुद्धि प्राण इन्द्रियाँ व इनके सम्पूर्ण कर्म भोग सबसे उदासी है, अब और केवल अपने आप में ही रहेंगे।

मैं सब में रहा सब मुझ में. मेरे बिना ये रहे नहीं परन्तु मैं अब इन सबके बिना रह सकूँगा आनन्द रूप मुक्त एवं मस्त।

अब आप परखलें कि कौन कितना कृतज्ञ व कृतघ्न है और कौन मस्त है। सही है। मैं भी तो मानता ही नहीं कि मैंने कभी कुछ किया ही था इसकी कृतघ्नता से मुझे मिथ्या ही कृत को यह भी भूलता रहा और अब सही जन्म मृत्यु प्रतीत हुआ था, बंधन हुआ था परन्तु मेरी कृतघ्नता में इसे व मुझे दोनों को मुक्ति मिल गई है। अलविदा! छुट्टी सबकी व मेरी !!

फूल—निष्काम दाना

मैं उस फूल की बात नहीं कहता जिसके लिए कहा है—

एक दिन जाके जामें सारो देश फूलि उठयो,
फूले राजबंसी थाह फूल कोलहै नहीं ।
एक दिन फूल धारे फूलन की सेज सोये,
फूल सम गात भार फूल को लहे नहीं ।।
एक दिन मीठी मुस्कान में झरत फूल,
फूलन की भूलन धरिक निबहे नहीं ।
जाके नेक ताके मुरझाये फूल फूलि जाते,
ताके कहो एक दिन फूलहू रहे नहीं ।।
फूल फूलकर फूल भूल धूल में धँस गया ।
जाकहं विपदा तूल फूल फूल में फँस गया ।।
आधा था तू फूल, फूलें सब घर फुल गये ।
पर तू मत अब फूल फूल अन्त यो लिख गये ।।

पर हमारा यह फूल तो पहले फूलता हैं और अन्त में सुकड़ता मुरझाता हुआ झुक जाता है कितना अच्छा लगता है फूल । हरेक का मन हर लेता है जहाँ तहाँ से कोई मकान; कोई गमला, कोई बाग, कोई मैदान, कोई दीवाल, कोई जंगल भी तो ऐसा नहीं जहाँ यह बिना बुलाए सबके यहाँ न पहुँचा हो । काँटों में, धूल में, पहाड़ों में, सर्दी गर्मी बरसात में ।।लान और मैदान में, सर्वत्र सब में जाकर हँसा खेला आँख मिचौनी का खेल खेलता रहा । किसी से राग नहीं द्वेष नहीं सहज स्नेह । और स्नेह जैसा कोमल भी तो है जो कहीं किसी को भी इसका बोझ न हो ऐसा हलका बनकर सर्वत्र सबको सजाता सँवारता रहा है ।

गले में, हाथों में पैरों में सिर पर, हृदय पर, पत्थर पेड़ पर, चाहे जहाँ रखो प्रसन्न । सबकी मायूसी को हटाने व हँसकर आप मिटने की उत्कंठा में रहता है यह । चाहे किसी कबर पर, मुर्दे पर डालदो उससे दोस्ती कर लेगा गुनगुना देगा कि हम तुम इस समय एक समान हैं । तू शरीर लुटा रहा है, मैं दोनों सुगंध व देह । योगी, भोगी, देवता परमात्मा, असुर, नास्तिक, दु खी, सुखी किसको यह फूल पसन्द नहीं आया ? देवताओं ने तो सिर पर धर लिया इसे यों कह कर कि हमसे तू अधिक निष्काम, असंग सुखदाता निर्माता व प्रेमी है । योगियों ने ध्यान करने की चट्टियों के रूप में अन्तर (कमलों के रूप में) ले लिया कहा हमारे मन को तुम रोक रखो और सब प्रकार की

विभूतियाँ दो। उसने कहा लो मुझे क्या तुम्हारा काम बना मैं बना रहूँगा। यह चिन्ता न की उसने कि समाधि में योगी उसे वहीं बैठाकर आप ब्रह्मरस में लीन होकर भूल गया—अनुसूया (ईर्ष्या रहित) फूल वहीं बैठा रहा। भोगियों ने कहा, "हमारे पास आओ हम तुम्हें अपना दुखड़ा सुनायेंगे। हमारे दुःखी जीवन में विश्राम का सहारा तूही है शृंगार का सहारा तू ही है। हमारे ये शरीर जिसे भोग खा रहे हैं तू अपने समान बना दे।" फूल बोला, तुम्हें अपने समान नहीं बना सकता परन्तु मुझे पहनलो, मुझसे ढकलो, मुझे एतराज नहीं। मुझे चारों तरफ भरलो तुम प्रसन्न हो जाओगे। खुशबू, मधु, खूबसूरती लुटाओ अरे कितनी जिन्दगी है ? फूल कहता है—तू एक दिन भी जी मगर ताज बनकर जी। अमर गुणगान बनकर जी। अटल विश्वास बनकर जी।। तू मत पुजारी बन स्वयम् भगवान बनकर जी।" देवताओंने तो सबमें इसे ही अपना आसन बनाया है—इसी पर सवार होकर अपने-अपने कर्तव्य पर डटे रहते हैं—इस लूटेरी दुनियाँ में। सब उन्हें लूटते हैं वे दुखी न हों इसी लिये फूल को अपने पास आसन बनाकर, हाथों में सिर में गले तथा सीने में लटका कर रखते हैं। इसको देख-देख लूटते रहते हैं निःशंक।

परमात्मा ने तो इसे अपना सब कुछ बना रखा है। इसी में वे निवास करते हैं। (हृदय) कमल में तो वे रहते हैं और इसीलिए अपनी अर्धाङ्गिनी का नाम ही 'कमला' धर रखा है। उसे पढ़ाते रहते हैं ऐसी सेवा करने वाला ऐसे निरहंकार सुकुमार सबको प्रसन्न करने वाला बनो।

और नास्तिक ! चाहे वह और किसी को न माने परन्तु फूल को वह भी चाहता है। उसे कोई जब नहीं चाहता अपने असद् भाव से जब वह दुःखी होता है तो फूल उसके पास पहुंचकर उसे सान्त्वना देता है—रोओ मत। किसी को क्या मानना ? सब धोखेबाज हैं सब कुछ छूट जाता है। तुम अपने में रमो। जो किसी को न माने अपने को माने वही ईश्वर है। तुम ईश्वर हो मुझे अपने गले में लगालो। चूमलो, मैं तुम्हें प्रसन्न करूँगा। तुम नास्तिक तो तक कहलाये जब कोई को न माने। तू मुझे तो मानता प्यार करता ही है। मेरी वातें और कोई समझे न समझे मैं तो मानता हूँ। तू प्रेम कर मुझसे व सब से। अरे ! सच फूल ही है। इसी तरह फूल फूलकर एक दिन मुरझा जायेंगे फूल जायेंगे, उनके फूल भी न मिलेंगे। फूल की बात से नास्तिक भी आस्तिक बन जाता है।

इसी फूल ने जो सबको अपना समझता है, सबके यहाँ सबके दुखों में सुखी देखते सहानुभूति करते हुए अपनत्व की भावना से इस दुःखदायी काँटे भरे संसार में सबको गले लगाता है आदि से अन्त तक हँसने खेलने व निर्वाण तक जो साथ रहता है नित्य का सखा यह मौन निर्माण स्वात्मतृप्त स्नेही अल्पजीवन का सदुपयोग करने वाला हजारों

ठोंकरें खाकर भी अपने प्रेम को उगलने वाला जो लाता है लुटा कर साथ कुछ नहीं ले जाने वाला। फूल प्रभु के गले, सिर लग कर अपनी काया अपने जन्म को सुफल करता है। दुर्गन्ध खाकर भी बिना शिकायत किये सुगन्ध बनाकर उड़ेलने वाले, तुझे प्रणाम है।

कितना अच्छा है यह फूल ! काश ! हम भी सभी फूल होते ! कैसा फूल ? किस फूल की बात करदी यह ? निर्द्वन्द—एक घर को छोड़कर सबको अपना समझ कर न्यौछावर होकर दुःख, दीनता अमंगलता को हरने वाले इस फूल का दूसरा रूप क्या है ? ये हैं शुद्ध बुद्ध मुक्त सत्पुरुष ज्ञानी जन सद् गुरुदेव। करो इन्हे प्रणाम। लेलो इन्हें अपने पास, चाहे जहाँ रखो राग या द्वेष से लो। ये जहाँ भी रहेंगे नन्दन वन बना देंगे। मस्त बना देंगे। हरफन मौला बना देगे। फूल बना देंगे। डॅमफूल नहीं एप्रिल फूल भी नहीं सदा फूल बना देंगे।

यह फूल गया अब फूल गया सब कुछ देने को फूल गया।
यह तुम्हें देखकर हँस-हँसकर सब कुछ देने को फूल गया।
लो इसे हाथ में सिर में तुम या पैरों पर भी गिरने दो।
जिंदा बनकर लो इसे या भला मुर्दे पर ही गिरने दो।
सर्वत्र सुगन्धि शोभा को बिखराने वाली मस्ती लेलो।।
थोड़ी-थोड़ी मस्ती ले लो।

निष्काम दाना फूल बनो। निज को पहचानकर सर्वस्व लुटाने वाले फूल बनों।।

लूट जाने के पूर्व लुटाने की शक्ति इन्हीं फूलों से मिलेगी। मृत्यु ग्रास बनने के पूर्व लुटाना सीखो। कदर मिलेगी प्यार मिलेगा शान्ति मिलेगी अभिमान न होगा और चाहोगे तो आखिरी धागा में हजारों रोते हँसते फूल भी मिलेंगे। फूल बनो। जागो, फूल बनो। सिकुड़ो मत, फैलो फूल बनो। अपनी बाँहें पसार कर सबको प्यार करो। आओ ! (देह) धूल से फूल बनो।

(११२)

परिशिष्ट

अकाल का हल

वैसे तो अकाल का अर्थ है अमृत आत्मा जिसका कभी मृत्यु नहीं होता। आत्मा अमृत है जिसे जानकर हम भी अपने मृत्यु के भयसेनिवृत्त होते हैं।

अकाल का दूसरा अर्थ असमय की मृत्यु। उसका कारण तो आज के समय भले कुछ हो परन्तु है वह जीव के प्रारब्ध एवं वर्तमान पुरुषों के अज्ञान व अयोग्य पुरुषार्थ का ही फल।

अकाल जिसके बारे में अभी सोचना है वह आज की मानव की भूख की समस्या को देखते हुए हल खोजना है।

अकाल पड़ता ही क्यों है? अकाल है ही क्या? बेमौसमवायू जल का आना जरूरत पड़ने पर या न आना। क्यों, यह क्यों है?

जहाँ तक सूत्र सन्तों ने समझा है हमारे मन का बाह्य स्थूल जगत से घनिष्ठ सम्वन्ध है। जैसा यहाँ मन हो रहा है वैसा ही बाहय प्रकृति में भी वही मन उन तत्वों को स्वानुकूल बनारहा होता है। आप देखिये कि जैसा मन रजतमसतो गुणी होगा वैसा ही आप अपना घर सँवारते सजाते हैं। वेही पुस्तकें, पदार्थ, वस्त्र साथी चित्र आपके आस-पास है 'जैसे आप के भाव होते हैं। तो जब यहाँ ये भाव ऐसा वातावरण पैदा कर रहे हैं क्या आप समझते हैं कि यह मन वहाँ तक नहीं पहुँचा? मांगे वारिद देंहि जल रामचन्द्र के राज' राम के राज्य में इच्छा से जल मिलता था। यहाँ भौतिक विज्ञान के ही भरोसे नहीं भाव साम्राज्य की महिमा है यह।

आज जिस प्रकार भोग—अर्थ एवं काम का प्राबल्य है अनाचार, दुराचार, अत्याचार ईर्ष्या द्वेष, घृणा, झूठ, छल, कपट, हत्या, मांसाहारी वृत्ति व उन्माद की आधार सुरा का प्रचार है क्या हम दैवी प्रकृति के हैं? तो जैसे हम हैं हम यदि अपने (मानव के) अतिरिक्त किसी का जीवन जीने देना पसन्द नहीं करते; अपनी भूख के लिये केवल स्वाद में थलचर जलचर नभचर स्वाहा किये जा रहे हैं; प्रकृति के उत्पन्न ये पापयोनि-प्राणी अपना जीवन बिना हमसे कुछ मांगे बिता रहे हैं उन्हें भी हम दया, सहानुभूति तथा जीवनदान न देकर क्रूरता से नष्ट कर रहे हैं—तो क्या प्रकृति हमसे प्रसन्न होगी? क्योंकि एक ही तो मन है सब जगह केवल भौतिक विज्ञान की आढयता (अहंकार) व भोग परायण वृत्ति की उच्छ्रंखल उन्मादिता से ही प्रकृति हस्तगत होकर सुख

शान्ति नहीं देती। वह तो धर्ममय सच्चरित्र की जीवनी से ही विपुलता शान्ति व समृद्धि देती हैं।

सत्वगुण में, प्रेम व प्रेम में सब कुछ प्राप्त होने का दावा है सबका। यह सबको अनुभव है कि प्रेम में सब कुछ प्राप्त होता है। चाहे उसका दुरूपयोग करें। चाहे झूठा प्रेम ही क्यों न हो वह भी स्वार्थ साधन कर लेता है तो सत्य प्रेम में ज्यादाकर्षण करने का बल है ही। सन्त तमोगुण से नहीं, संयम एवं विशुद्ध निष्काम प्रेम के ही भरोसे सब कुछ प्राप्त कर जगत के दीपक बने रहे हैं।

आज संयम, स्वाध्याय, समता प्रेम व सेवा गायब होती जा रही है। क्या येही हमारे नष्ट गुण प्रकृति से गायब होते हुए नहीं हमें फल रहे हैं? भगवत् विश्वास, भगवत्प्रेम भगवत् व्यापकता का दर्शन न कर ही ये सब अनर्थ हम व प्रकृति दोनों में प्रत्यक्ष है। यदि सब शरीरों में हम भगवतत्व को देखने लगें तो ये अनाचार न करेंगे न प्रकृति को ही करने देंगे। आप सत्य समझें कि प्रकृति में और आप की प्रकृति में साम्य है।

अतः जिस विधि से हम इस मुंह बाये खड़े अकाल की समस्या को सुलझा सकते हैं वह सोचें। समय मोहर हाथ को लिये लगता ही है। परन्तु विदेशी उच्छृंखल वृत्ति के गुलाम न बनकर हमारे पूर्व ऋषियों ने क्या कहा है उसे भी समझें, पढ़ें। गांधी सौ वर्ष पूर्व यदि एक महपुरुष हो सकते हैं तो इसका अर्थ नहीं कि इसके पूर्व और जितने हुए वे मूर्ख थे? उन्हीं में यह धर्म न होता तो गांधी में भी वह न आता। हमारे यहाँ सब कुछ है खोजें पढ़ें, एवं तदनुसार विचार विनिमय करें। सुरा व मांस से उन्मादित वृत्ति से नहीं प्रेम एवं सुरक्षा तथा भगवत्प्रेम व विश्वास के साथ भगवत विधान को समझने की व उसे आदर देने की भावना से सोचिए। आइये हम सोचें। सन्तों ने जो भी धर्म नियमों के रूप में हमारे जीवन को ढाला था उसमें हमारे आत्म ज्ञान अकाल मृत्यु व अकाल, अकर्षण रहित सुखो जीवन का अमोघ उपाय है। जहाँ तक उनका अनुभव है उसी के अनुसार कुछ लिख रहे हैं। एक अंश में सर्वांश में ही सोचना होगा। सन्तों ऋषियों ने ये नियम रखे थे—उत्तम नैतिक धार्मिक शिक्षा जो बचपन से ही मानव को सबसे प्रेम कराकर सर्व विज्ञानों के ज्ञान के साथ ही, ऊँच नीच की भावना से रहित एकेक का आदर करने में प्रवीण बनाये। आज तो राजनैतिक स्वार्थों में किसी नेता का ध्यान नहीं कि तीनों पीढ़ियाँ अशिक्षित होने का जो वेक्यूम विदेशियों के कुचक्र से आ गया है उसकी भरपाई कैसे होगी? बच्चे बड़े बच्चों के कारण हड़तालों के फेर में आ गये। वह बच्चे राजनीतिक उद्देश्यों में गए। गृहस्थ नौकरियों में गये। शिक्षा चौपट। शिक्षा राजा के नहीं समाज शास्त्री नेताओं के हाथ होनी चाहिए।

पश्चिमी शिक्षा व व्यवहार जो क्षणिक सुखद होते हुए भी टिकाऊ तथा हितकर नहीं हैं। उन्हें बदलना ही होगा।

"अत: शिक्षा तटस्थ विषय विरागी, निष्काम प्रेमी विद्वान तथा संयमी वृद्धों के हाथ हो जो प्रेम एवं जीवन की खाइयों के ज्ञान के द्वारा बालक को योग्य समाजका घटक तैयार करें। संयम अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह तथा शौच संतोष स्वाध्याय तप ईश्वर प्रणिधान द्वारा निष्ठित विद्यार्थी सादगी में समाज की उदारता से सेवा कर सकता है। उसमें स्वास्थ्य बल तेज स्फूर्ति एवं संयम के द्वारा उच्छृंखलता पर अंकुश होगा। कहाँ तक पुलिस सेना व गुप्तचर हरकामो पर रोक रखेंगे ? देश भक्ति के साथ विश्वात्म प्रेम द्वारा महा मानव बना कर देवत्व जगाकर परमात्मा की व ऋषी संत की स्थिति तक पहुँचाया जाय। भोगाभाव के लिए उच्च साहित्य, उच्च फिल्में, व उच्चसंगी बनाया जाय। उपन्यास व फिल्मों के गंदे उन्मादक व समाज की रूढ़ियाँ को तोड़ने की हिम्मत देने वाले कथानकों में परिवर्तन कर देश भक्ति समाज रक्षा मर्यादाओं के पालन एवं आदर्शवाद की ओर ले जाया जाय।'

गौ पालन द्वारा दूध, खाद व अन्न की समस्या हल की जाय। जितना पड़ती खेती है हर चार खेतों में एक एक कूप की व्यवस्था हो या नहर के द्वारा जो उचित व शीघ्र हो किया जाय। गौ की सेवा से सम्पूर्ण सदगुणों की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण प्रजा की रक्षा गौ रक्षा से ही होगी।

भगवत् विश्वास भगवत् दृष्टि सबमें कराकर सभी को उत्तम व आत्म विश्वासी बनाया जाय। आस्तिक बनाया जाय। सन्तों का आदर करने की भावना नेताओं से लेकर सभी में शिक्षा के माध्यम से डाली जाय। सन्त हमारे देश की अमूल्य सम्पत्ति है। इसका अनादर करके आप कदापि सत्व गुणी न बनकर सुखी न होंगे। इनसे अनेक लाभ हैं। इनका समाज से संग समाज का संतुलन हैं तथा शासक को भी समाज के सही चित्र का दर्शन प्राप्त होगा। गुप्तचर व नौकरों से अधिक इनकी पहुँच है वे निष्काम वे वेतन समाज के सेवक हैं, नोकर नहीं। इनका प्रभाव झोपड़ी से महल तक है। संयम तप जन-सेवा शान्ति विराग, भोगाभाव, समता उदारता करुणा तथा भगवत सान्निध्य ये सन्त के स्वरूप है। हाँ खोजिये और उनका महत्व आदर एवं उपयोग लीजिये व लिवाइये। व्यर्थ के राजनैतिक प्रभावों में दबकर भारत व भारतीयता को बदनाम करने की नीति में सन्तों के बदनामी का जो कुचक्र पत्रों में प्रकाशित होता है उससे सन्त की महिमा लोक दृष्टि में भले गिरे-सन्त की महिमा नहीं गिरतो है, लोग इस कारण सन्त लाभ से वंचित होकर, असन्त भाव का प्रचार होकर—अशान्त अवश्य होते हैं।

यज्ञों के विज्ञान को समझ कर समय समय पर शुद्ध यज्ञों के प्रचार द्वारा सामूहिक सात्विकता का भाव फैला दें तथा सामूहिक आत्म विश्वास प्रभु विश्वास जागृत करें।

सन्त सम्मेलनों के द्वारा जनता को सन्तों के निकट आने दें दोनों पर आपका सही नियन्त्रण हो। इसी तरह समदुःखी जनता आपस में सह जीवन पालन में सदा रहेगी। क्योंकि जहाँ प्रेम होता है वहाँ आपस में सब बाँटकर खाते हैं। भूखे नहीं रहते। धर्म पालन—भारतीयता के पालन से कदापि भारत दुखी नहीं होगा। कायरता का नाम भारतीयता नहीं हैं। संयम विवेक पूर्ण बल विश्व कल्याण की भावना सही पुरुषार्थ, शास्त्रीय वैज्ञानिक जीवन व अनुच्छृंखल जीवन यही भारत की विशेषता है। भगवत शास्त्री को धरा पर अवतरित करने वाली यही संस्कृति है।

राजा नेता सदैव पवित्र चाहिए। यह नहीं कि कोई अपठित उच्छृंखल व भीड इकट्ठी करने वाले भोगी व्यक्ति जो छली कपटी व स्वार्थ के पीछे समाज व राष्ट्र को लड़ा-मिटाकर संतुष्ट होने वाले हों नेता बनें। जिसका जीवन उपरोक्त शिक्षा प्रणाली से तज्ञ हो एवं राज-काज की शिक्षा कार्यों से पुरस्कृत तथा सामाजिक भौतिक जीवन में भी जो आदर्श हों वे ही नेता हों, वे ही शासक हों, वे ही नियम बनावें।

मांसाहार व सुराका जीवन क्षीण करते-करते समाप्त करें। यह कभी मानव को मानव नहीं रहने देते। रोगी उन्मादी व असन्तुलित भोगी जीवन का उत्पादक यह आहार एक ओर जहाँ स्वास्थ्य को खराब करता है वहाँ चित्त को क्रोधी, छली, कपटी क्रूर व स्वार्थी बनाता है।

भारत की एकमात्र घर घर में रहने वाली खुराक दूध जो दही मट्ठे के रूप में दिनभर बिना नमक मीठे रोटी के भी पूर्ण खुराक थी उसे पूर्ण सहयोग दें। गोपालन के द्वारा अन्न तो बढ़ेगा ही पशुओं के अन्न घास की समस्या भी हल करेगी तथा अन्न को बचाएगा।

कभी व्रत उपवास के जो पूर्ण नियम थे वे यथायोग्य वैज्ञानिक अन्वेषणों के द्वारा समझाकर अन्न की समस्या (क्योंकि उस दिन अन्न न खाकर अन्य पदार्थ साग, फल, दूध आदि खाते हैं) हल होगी अर्थात् अन्न बचेगा। वहाँ मानव कभी-कभी आनेवाले भूख के वेग को भी सहन कर सेवा की भावना में उदार हो सकेगा। क्योंकि व्रत में दान भी होता है। स्वास्थ्य व शुद्ध मन भी होगा ही।

योग तप व मंत्र तंत्रों के अनुसंधानकर उसमें निष्ठित जनता तनमन बुद्धि से बलवान होगी। समाज प्रेम की शिक्षा के द्वारा संगठित व प्रेम सम्पन्न होने के कारण विश्व के तमोगुण को चुनौती देकर अपने प्रभाव को बढ़ायेगी तथा अपनी सुरक्षा करेगी। क्योंकि संगठन में महा बल है यद्यपि लिखने को बहुत है परन्तु इतने में सभी समझेंगे कि कि प्राचीन भारत में वैदिक काल में आर्य लोग हर ओर से जो प्रवुद्ध बलवान समर्थ होकर विश्व-गुरु होकर सब ओर जो फैले थे उसका कारण भारतीयता का अनुकरण था। ताकि पाश्चात्यीय। पाश्चात्य अन्धानुकरण भोग व काम का आसुरी जीवन है जिसका

अन्त-संघर्ष विश्व नाश है जो आज प्रत्यक्ष है । २२ साल के पश्चिमी अंधानुकरण का फल आपस की पूर्णतः फूट कर्जदारी हर प्रकार के मानसिक तनाव कंगाली अहंकार एवं अस्वस्थता है ।

अतः भारतीय करण हो । हर ओर भारतीय करण हो । भारतीय करण-आत्मीय करण है । हम अपने देश में अपनी संस्कृति, अपनी धरती, जल हवा से ही जीयंगे अन्य से नहीं । अतः फिर से एक वाक्य में इस आए व आने वाले अकाल की विभीषिका हल इन्हीं शब्दों में है—संयमी जीवन व धार्मिक शिक्षा, भोगाभाव (भोगों पर संतुलन) अहिंसा आदि दसनियमानुसार जीवन, कृषि विकास गोपालन भगवत् विश्वास निष्काम प्रेम प्रचार सन्तों का संग, यज्ञादि भारतीय साधनों का अन्वेषण व उपयोग, प्रेम, समस्त सेवा का प्रचार समदुखी होनें की भावना से सह जीवन सह पालन का प्रचार, राजा नेता शासक शिक्षित हों । शिक्षालयों व समाज से सम्मानित धर्मदान देशभक्त हों । मांसाहार व मदिरा का निषेध ! त्याग उदारता की भावना का भाव । सिनेमा साहित्य सृजनाओं के द्वारा आदर्श के प्रचार द्वारा अश्लील का नहीं पैसा के लिए नहीं समाज के आदर्श जागरण के लिए) परिवर्तन हों तथा विश्व कल्याण की भावना का प्रभाव बढ़ायें । तभी यह हल हो सकती है । आदर्श समता से वितरण तथा कन्ट्रोल को हटाना भीं आवश्यक है । इसी से संग्रह करने की ब दुख देने की भावना फैलती है । कंजूसी सेवा का अभाव इसी से है । बाहर जानेवाले के अनाज पर रोक हो । इन सबके द्वारा ही विश्व का कल्याण होगा ।

वेदान्त केशरी स्वामी प्रकाशानन्द जी की अन्य पुस्तकें

पुस्तकें	मूल्य
१. मैं क्या हूँ	२-००
२. प्रकाश कीर्तन–१	१-००
३. ,, २	१-००
४. प्रकाश किरण	१-००
५. अमृत विन्दु	१-५०
६. शिवोऽहम माला	०-५०
७. साक्षात्कार २ भाग	३-५०
८. चिन्तन के क्षणों में	१-००
९. कहानियों में	१-००
१०. दिल का दिल में	१-००
११. श्रद्धा लौट आई	२-००
१२. भक्ति	१-५०

प्राप्ति स्थान

मनूभाई जोशी

माधवजी एण्ड सन्स

२०/१ आरमेनियन स्ट्रीट

कलकत्ता–१